भारतीय चित्रकला

(इतिहास)

असीत कुमार हाल्दार

सहचार्य, लंदन सोसाईटी ऑफ आर्ट्स, भूतपूर्व प्रधानाचार्य, कला भवन
शान्तिनिकेतन, जैपुर स्कूल ऑफ आर्टस तथा गवर्नमेंट
कालिज ऑफ आर्ट्स एन्ड क्रेफ़्ट्स, लखनऊ

चन्द्रलोक प्रकाशन

इलाहाबाद—देहली

प्रकाशक
चन्द्रलोक प्रकाशन,
चन्द्रलोक भवन,
५७ अ, दरभंगा कॉलोनी,
इलाहाबाद—२

प्रथम संस्करण
सितम्बर १९५९

मूल्य ६: रुपए

मुद्रक
भार्गव प्रेस,
१, बाई-का-बाग,
इलाहाबाद

प्रस्तावना

इस पुस्तक में कलाकारों तथा विद्यालय और महाविद्यालय के शिक्षार्थी के लिए भारतीय शिल्पकला का ऐतिहासिक दृष्टिकोण से विन्यास किया गया है। आज तक शिल्प विद्यालयों में चित्रांकन पद्धति की ओर ही ध्यान दिया जाता था। शिल्प कला की आरम्भ की कथा तथा ऐतिहासिक क्रम परिणति के विषय में शिक्षा न दी जाती थी। इस पुस्तक में आदिम चित्रकला से लेकर क्रमशः बौद्ध, मुगल एवं आधुनिक युगों में हुई क्रमिक धारा की उन्नति का विवरण प्रस्तुत किया गया है। दो हजार वर्ष की कला सम्बन्धी सांस्कृतिक प्रतिष्ठा अंतिम अध्यायों में विवेचित है। आधुनिक यूरोप के कला प्रभाव से प्रभावान्वित हो हम अपनी सम्पदा को भूल बैठे हैं। इसी लिए आधुनिक यूरोप की चित्रकला पर भी तुलनात्मक प्रकाश डाला गया है जिससे सहज ही में हृदयंगम हो जाय। पुस्तक के विषयों का मुख्य आधार मेरी अंग्रेजी की कुछ रचनाएँ तथा पाण्डुलिपियां अवश्य हैं परन्तु उनमें इतस्ततः पर्याप्त परिवर्तन कर इस पुस्तक को विशेषकर शिक्षार्थियों के लिए नया रूप देकर अति उपयोगी बनाने का प्रयत्न किया गया है। वर्तमान समय में सर्वतः कला शिक्षा के प्रसार के लिए सुविधायें दी जा रही हैं एवं मुझे विश्वास है कि जिस प्रकार इस विषय पर मेरी अंग्रेजी भाषा की रचनायें उत्तर प्रदेश इत्यादि के अनेक विद्यालयों में पाठ्य पुस्तक रूप में ग्रहण की गई हैं चित्रकला का यह ऐतिहासिक विवरण भी पाठ्य पुस्तक रूप में गृहित होकर विद्यार्थियों को अपने देश की कला का मुख्य रूप समझने में सुविधा प्रदान कर सकेगा। अंत में इस पुस्तक को हिन्दी रूप देकर प्रकाशित करने के लिए प्रकाशक को मेरी ओर से हार्दिक धन्यवाद।

स्वतंत्रता दिवस, १९५९ — असीत कुमार हाल्दार

परिचय

श्री असीत कुमार हाल्दार भारतीय चित्रकला की पुनरुत्थान शैली के एक अग्रगामी कलाकार तथा डाक्टर अविनेन्द्र टेगौर के अग्रतम शिष्यों में से हैं। उनकी रचनाओं का सम्माननीय उल्लेख प्रसिद्ध ग्रन्थकार विन्सेन्ट ए० स्मिथ ने "भारतीय तथा सिंगलद्वीप की ललित कला का इतिहास" में, ई० बी० हैविल ने "भारतीय मूर्तिकला तथा चित्रकला" में, डाक्टर ऐ० के० कुमारस्वामी ने "भारतीय कला के उत्कृष्ट उदाहरण" में तथा सर्व श्री एच० जे० रालिंसन, के० डी० वी० कोडरिंगटन, जे० वी० एस० विलकिंसन, जान अरविन तथा सर रिचार्ड विन्सटेड ने "भारतीय कला" में किया है। श्री हाल्दार ने उच्च कोटि के चित्रों का उद्गम अध्ययन किया है और अजन्ता, बाग़ तथा जोगीमारा गुफ़ाओं से चित्रों की प्रतिलिपियां भी तय्यार की हैं। श्री हाल्दार के स्वयं निर्माणित चित्र भारत तथा विदेश के संग्रहालयों में तथा कला प्रदर्शन-कक्षों में प्रदर्शित हैं। काव्य क्षेत्र में भी उन्होंने बंगाल में ख्याति प्राप्त की है और उनकी कृतियों की स्वयं कवि रविन्द्रनाथ टेगौर तथा बंगाल के अन्य प्रतिष्ठित विद्वानों तथा कवियों ने अति प्रशंसा की है। उनको एक प्रतिष्ठित कलाकार के रूप में अन्तर्राष्ट्रीय क्षेत्र में भी मान्यता मिल चुकी है और लंदन की रॉयल सोसाइटी आफ़ आर्ट्स की साहचर्य (Fellowship) की उपाधि भी प्रदान हो चुकी है। आप कला-भवन शान्तिनिकेतन के संस्थापक-प्रधानाचार्य, जैपुर स्कूल आफ़ आर्ट्स के प्रधानाचार्य तथा लखनऊ गवर्नमेंट कालेज ऑफ़ आर्ट्स एन्ड क्रेफ़्ट्स के २० वर्ष की अवधि से अधिक प्रथम भारतीय प्रधानाचर्य का पद ग्रहण कर चुके हैं। उनके उत्तर-प्रदेश, जैपुर तथा शान्तिनिकेतन के अनेक शिष्य स्वयं भी प्रतिष्ठित कलाकार हो गए हैं। श्री हाल्दार की यह रचना प्रकाशित करते हुए हमें बड़े गौरव का अनुभव हो रहा है। आशा है इसका यथोचित स्वागत होगा।

प्रकाशक

विषय-सूची

चित्र-सूची

भारतीय चित्रकला

(इतिहास)

चित्र नं० १७ बोधिसत्व पद्म-पाणि, 'महापुरुष (छठवी शताब्दी मध्य)।

एक

आदिम कला

मनुष्य की महत्ता इस बात में नहीं है कि उसमें अतिमानव होने की क्षमता है, वरन इस बात में है कि वह मानव है और स्रष्टा है। इस विचित्र संवेदनशील सृजनात्मक प्रवृत्ति ने ही उसे अन्य जीवित प्राणियों में सर्वोत्तम स्थान दे रखा है। निर्माता रूप में उसके प्रारम्भिक विकास का इतिहास प्रागैतिहासिक कला एवं संस्कृति के अवशेषों में पाया जा सकता है। सुदूर युगों में यह विकास कैसे हुआ इसे पूर्ण रूपेण कोई नहीं बता सकता। सन् १८७९ ई० में स्पेन देश के एक पुरातत्व अन्वेषक ने अल्टामीरा में प्रागैतिहासिक गुफ़ा निवासियों की कला का सर्वप्रथम पता लगाया था। इस खोज से यह प्रकट हुआ कि हमारे आदिम पूर्वज अपनी जीवन कथा आखेट-दृश्यों, धर्म-संस्कारों तथा अन्य प्रसंगों को अपने गुफ़ा-गृहों की दीवारों पर अंकित किया करते थे। उस समय धरातल की भौतिक स्थिति कई एक कारणों से मानव के निवास योग्य न थी और आधुनिक अवस्था से कहीं भिन्न थी। हिम युगों का क्रम समाप्त होने पर अपेक्षाकृत कुछ गरम दिन आए जबकि जीवन निर्वाह की अधिक सुगम स्थिति में यूरोप में भ्रमणशील मानव जाति अन्य मांसाहारी पशुओं के साथ खाद्यपदार्थ तथा आश्रय हेतु मरुस्थल में बार-बार स्थान परिवर्तन करने लगी। वे प्रायः पर्वत अथवा घाटी की प्राकृतिक शोभायुक्त गुफ़ा-गृहों में निवास करते थे और किसी प्रकार अपना निर्वाह शिकार द्वारा संग्रह किए हुए पशुओं का कच्चा मांस खा कर कर लेते थे।

नरतत्वीय विज्ञानानुसार मानव की आदिम जातियाँ सहस्त्रों वर्ष तक एक दूसरे से पृथक रहीं और इस प्रकार के उत्तरोत्तर पृथकरण के फलस्वरूप इनमें ६ मूल जातियों का जन्म हुआ। १—आस्ट्रेलिया निवासी, २—नीग्रो हब्शी, ३—मंगोल देश के निवासी, ४—अल्प पहाड़ के निवासी, ५—भूमध्य सागर के किनारे के निवासी तथा ६—नोरडिक (उत्तरी देश के निवासी)। नरतत्वीय विज्ञान वेत्ताओं के विचार में आस्ट्रेलिया निवासी तथा भूमध्यसागर के निवासी

दोनों ही समूह भारत की ओर स्थानान्तरित हुए और अनन्तर अन्य देशों में भी फैल गए। उनके कला अवशेष अब भी भारत तथा अन्य देशों की सुशोभित कन्दराओं में अति जीवित हैं। अन्य अवशेषों में गुफ़ा-गृहों की चित्रकारी को उनकी दैनिक आखेट-क्रीड़ा तथा अपहरण के चिन्ह-युक्त प्रतिरूप का स्मारक समझना चाहिए जो कि उनकी औपचारिकता तथा धार्मिक कर्म पद्धति का आधार भूत है।

इस सम्बन्ध में प्रागैतिहासिक कला यद्यपि आदिम तथा अविकसित है परन्तु अपने सांकेतिक स्वरूप के बावजूद रूढ़ियों से दूषित नहीं है। चित्रकारी के आदिकालीन प्रयत्नों से हम उनकी संस्कृति के व्यवहार आदर्श का पता लगा सकते हैं। जैसे जैसे मानव ने अपने परिपार्श्व को सुन्दर बनाने का प्रयत्न किया उसने मानवता की प्रथम सांस्कृतिक कार्यपूर्ति को जन्म दिया। स्पेन देश में अल्टामीरा के गुफ़ा-गृहों की चित्रकारी के प्रथम आविष्कार ने आदिम मानव की युद्ध कला का रहस्योद्घाटन किया जो उस युग से सम्बंधित है जबकि एशियाई, मिश्री तथा रोमन संस्कृति अज्ञात थी। अपनी आधुनिक सभ्यता पर दृष्टि डालते हुए हम इन पूर्व कालीन प्रयत्नों को अन्ध विश्वास मूलक धार्मिक कर्म सम्बन्धित कला मानकर मुस्करा लें, परन्तु उनके सौंदर्यकला स्वतोविकास पर उनके स्वतः स्फूर्त (या अनायास) सौंदर्य-विकास पर समुचित विचार किए बिना एक दम अस्वीकृत नहीं कर सकते। प्राचीन प्रस्तर युग से बहुविलम्बित नव प्रस्तर युग तक और ताम्र युग से लौह युग तक की उनके उत्तरदान की क्रमानुसार काल क्रम श्रृंङ्खला का निरीक्षण करने से हमको विविध प्रकार के धार्मिक कर्म सम्बन्धी कार्य कलाप का अनुभव होता है जो अन्ततः कला-सूत्र में समीकृत हो गए। गुफ़ा निवासियों की कला के सौंदर्य महात्म्य के अतिरिक्त यह चित्रकारी हमको मानव के जीवन निर्वाह सम्बन्धी विकट संघर्ष तथा उनके विपद्जनक दुस्साहसों की कल्पना भी कराते हैं। यह चित्रकारी प्रायः पहाड़ी अगम्य निर्जन स्थानों में मन्द प्रकाश में ही अंकित की गई थीं जिस कारण विद्वानों का मत है कि धार्मिक कर्मों की पवित्रता के कारणवश उन्हें अपने विरोधियों से रक्षार्थ ऐसे एकान्त की आवश्यकता थी। यद्यपि आदि काल में वे अति अनिश्चित जीवन निर्वाह करते थे, उनकी विधायक वृत्ति या सृजनात्मक बुद्धि जो कला कृति में अभिव्यक्त हुई इस युग के सभी मनुष्यों से बरबस प्रशंसा के शब्द कहला लेती है। यह स्पष्ट है कि ललित कला की भावना अति आदिम मानव में शक्तिगर्भित अवस्था में विद्यमान थी। वास्तव में आदिम मानव ने अपने धार्मिक कर्म सम्बन्धी कला-अभिव्यंजन के द्वारा जान बूझ कर अपनी गत्यात्मक एवं लयात्मक शक्तियों के खोज निकालने की कभी चेष्टा नहीं की। यह केवल इच्छानुसार ही आत्म-अभिव्यंजन के उद्देश्य से स्फुटित हुई जो कि अन्त में सारे उत्तरवर्ती कला-अभिव्यंजन का परमावश्यक प्रधानाधार बन गया।

पश्चिम प्रदेशों में असभ्य धार्मिक कर्म पद्धति तथा औपचारिक दुस्साहस पूर्ण कार्यों द्वारा यूनान में महान मूर्तिपूजक कला का उपक्रम हुआ जो अन्त में ईसाई धर्म के आगमन पर ईसाई कला के उच्चतम शिखर पर पहुँच गई। इस प्रकार

आदिम अभिव्यंजन के गहन तथा आग्रहयुक्त विशेष भाव अति मिश्रित सभ्य-मानव की कला में पाए और अंगीकृत किए जा सकते हैं। यह प्रत्यक्ष है कि सम्पूर्ण उन्नतिशील कल्पनायुक्त तथा रोमांचक कला का जन्म तथा विकास आदिम कला रूपों से हुआ और वह प्रधानतया उन्हीं से प्रभावित हुई है। लययुक्त आकृतियों के अंतर्लीन प्रारम्भिक सिद्धान्त सदैव अपरिवर्तित ही रहे।

सुदूर युगों में जो धार्मिक कर्म तथा पितरपूजन व्यवस्था प्रचलित थी उस पर भी विचार करना आवश्यक है। भारत में हम इसको अति सभ्य हिन्दू धार्मिक कर्म काण्डों में जो दिवंगत पूर्वजों के निमित होते थे तथा काष्ठ प्रतिमा निर्माण जिन्हें वृष काष्ठ कहते थे, में, देख सकते हैं। इसी प्रकार जावा देश में मृत नृपति की आत्मा का आदर एक सांड के पुतले की आकृति बनाकर किया जाता है जिसकी गणना उसकी श्रेष्ठतानुसार कला-कृति में की जा सकती है। क्रास चिन्ह का उपयोग अनेक आदि मानव ने अपने विविध धार्मिक कर्मों में प्रयोग किए गए लाक्षणिक चिन्हों में साधारणतयः किया है। यह क्रास ईसाई धर्म निष्ठा का अब भी अति महान प्रतीक है। ऐसे प्रतीक विधान के आन्तरिक मूल्य में बड़ी भिन्नता रही। न्यू मेक्ज़िकों देश की जूनी जाति (Zunis) ने क्रास को विश्व की चारों दिशाओं का प्रतिरूप दिया अतएव ऐरोपोहोस जाति (Aropohos) ने इसको प्रातःकालीन वीनस (Venus) नक्षत्र का रूप माना। इसी प्रकार रंगों में भी संकेत पद्धति के लक्षण प्रचलित थे। हिन्दू धर्म के लोक-संस्कारों में नीला रंग आकाश तथा अनन्तता दर्शाता है अर्थात् परमदेवता स्रष्टा या पुरुष का बोध कराता है। पीला रंग पृथ्वी अर्थात् सृष्टि या प्रकृति की ओर संकेत करता है। इसी प्रकार जूनी जाति में नीला रंग पुरुष के लिए तथा पीला रंग स्त्री के लिए अपने पुरोहित के वास्ते प्रार्थना-छड़ी रंगने के उपयोग में आता है। मुखावरण तथा सांस्कारिक वस्त्र भी इसी प्रकार जादू टोना चिन्ह सूचक उपयुक्त रंगों से रंगे जाते हैं। भाग्य विधाता तथा वर्षा सृजक देवी देवताओं को जो बाद में यूनान में पुनर्जीवित रहे प्रसन्न करने के अभिप्राय से गुफा निवासी विविध प्रकार के आकर्षण प्रयोग में लाते थे, फ्रांसीसी सूदान में बकरी जैसे जन्तु (antelope) की आकृति, पीरु देश की भाजन-निर्माण कला अफ्रीका तथा ईस्ट इन्डीज़ की काष्ठ-मूर्तियाँ तथा ढाल, न्यू गिनी देश के मुखावरण तथा गुप्त सम्बन्ध सूचक चिन्ह और फ़िलिप देश की आदिकालीन बांस कला उस सौंदर्य कला रुचि के जो धार्मिक कर्म सम्बन्धित व्यवहार द्वारा प्रगति करती गई, पर्याप्त मात्रा में उदाहरण मिलते हैं। एक प्राचीन पाली भाषा के मूल सूत्र से पता चलता है कि जब शक्तिशाली अशोक अपनी पुत्री संघमित्र (Sanghamitra) के साथ पवित्र बोधतरु की पौध को, जिसे अन्त में उसके पुत्र महेन्द्र को सिंहलद्वीप ले जाना था, लेकर पद मार्ग से ताम्रलिप्त बन्दरगाह को चला तो उसके साथ सहगमन करने वालों में अनेक दास दासियों के अतिरिक्त दो आदिम मानव भी थे, जो लकड़बग्घा तथा गरुड़ आकृति के गुप्त सम्बन्ध सूचक चिन्ह लिए हुए थे। भारतवर्ष में अब भी कुछ मौलिक मुख्य भाव अनेक सांकेतिक शृंगारयुक्त प्रतिमाओं में अनुजीवित हैं। इसके अरितिक्त शिशु तुल्य लयज्ञान हमको आदिम मानव के सौंदर्यशास्त्र

सम्पन्नता का भी परिचय देता है। उन्होंने यह मुख्य भाव प्रकृति से पर्याप्त रूप से अनुकरण किए परन्तु अपने लय तथा आकृति के ज्ञानानुसार उसमें सुधार तथा परिवर्तन भी किये। निश्चित पृथक्करण के साथ प्राकृतिक विषयों का इस प्रकार स्वतंत्र अनुकूलन भी उनकी परिकल्पना के अनेक प्रकरणों में विलक्षणता का कारण स्पष्ट कर देती है।

इस प्रकार आदि मानव को धार्मिक कर्मों की पद्धति से लय हेतु प्रेरणा मिली। लय जीवन सिद्धि की शक्तियुक्त अभिव्यंजना है। यही लय की प्रेरणा विजयी सैनिक अथवा सफल शिकारी के अंगों द्वारा विविध धाराओं में तरङ्गमय होती है और दैनिक जीवन के व्यवहार विधान द्वारा तथा उसी में होकर बहती है। इसी प्रेरणा को चित्रकार, मूर्तिकार तथा काव्य रचनाकारों ने अपनी अपनी कला के निर्माण में युग प्रति युग ग्रहण किया है और अमर कर दिया है। धार्मिक कर्म पद्धति ने जीवन के आर्थिक अथवा वाणिज्य-दृष्टि से सदा स्पष्ट सम्बंध नहीं रखा है और इसी कारण उसने ऐसे कला-रूपों का अनुसंधान किया है, जिसका उद्देश्य उसकी उपयोगिता न होकर उसका कलात्मक गुण था। आदिम मानव अवश्य साधारणतः अपनी अनेक धार्मिक कर्म पद्धति द्वारा दुष्ट प्रेतात्माओं को दूर रखने के लिए उत्सुक रहता था। सभ्यता के आगमन से विश्व रहस्य क्षीण होता गया परन्तु आदिम मानव नग्न आकाश तले निवास करता था और भौतिक स्थिति के ऐसे निरन्तर परिवर्तन से मुठभेड़ करता रहता था जैसे ज्वाला-मुखी विस्फोट, बनाग्नि, जल-प्रलय, अनावृष्टि तथा भयंकर तूफ़ान। प्रकृति के इतने निकट होने के कारण उन्होंने ऐसे चमत्कारों से समावेशित रहस्यमय आत्माओं की सहायता लेने की चेष्टा की जिससे उनकी जीवन स्थिति में उनकी आवश्यकताओं तथा घटनाक्रम के अनुकूल परिवर्तन हो जाय। इसी से पिशाचपूजन, गुप्त सूचक चिन्ह पर आधारित सिद्धान्त तथा ब्रह्मवाद की उत्पत्ति हुई। पूजन को आकर्षित तथा प्रभावशाली बनाने के लिए उन्होंने उसको ललित कला का रूप देने का प्रयत्न किया और इस प्रकार धर्म की आवश्यकता के साथ-साथ कलापूर्ण कृति की अभियाचना भी बढ़ती गई।

धार्मिक कर्म पद्धति से सम्बन्धित सांकेतिक चिन्ह तीन भिन्न वर्गों में विभाजित किए गए हैं—(१) आदि जातियों के देवताओं की आकृतियाँ तथा गुप्त सूचक चिन्ह, (२) देवी देवताओं के लाक्षणिक चिन्ह तथा मूर्तियाँ, और (३) पूर्वजों की प्रतिमायें अथवा पुतले। आदि जातियों के देवताओं की आकृतियाँ तथा गुप्त सूचक चिन्ह उनके वंशजों के बिल्लों के रूप में व्यवहार में आते थे और कभी कभी खम्भों पर सुन्दरता से खोद कर बनाये जाते थे। इसी प्रकार के अन्य लाक्षणिक चिन्ह गाँव के मुखिया अथवा पुरोहितों के चिन्ह रूप प्रयोग में आते थे। यह एक विशेष यन्त्र द्वारा शरीर में गोद दिए जाते हैं या एक असाधारण वस्त्र अथवा अलंकृत उष्णीष के रूप में धारण किया जाता है। पूर्वजों की प्रतिमायें कुल या जाति के कल्याण के लिए बनाई जाती थीं। धार्मिक कर्म पद्धति द्वारा भेंट तथा बलिदान की प्रथा का विस्तार हुआ। आदिम मानव द्वारा जिन धार्मिक कर्म पद्धति सम्बन्धित कला-आकृतियों का अभिव्यंजन हुआ वह इस प्रकार श्रेणी

वृद्ध किया जा सकता है—(१) पौराणिक उपकथाओं का कहानी-वर्णन तथा कविता-पाठ जिसमें परिमित ताल-सहित सङ्गीत का समावेश भी होता था, (२) नाटकीय अभिनय में मुखावरण सहित नृत्य के साथ हाव भाव दिखलाने तथा नकल करने की कला, (३) मूर्ति तथा चित्र कला अर्थात चित्रकारी, नक्काशी, कपड़ा बुनना तथा मिट्टी के खिलौने या बर्तन बनाना। आदिम मानव का जादू टोने द्वारा आरोग्य प्राप्त करने में विश्वास होने से भांति भांति की विशिष्ट संकेत-विद्या तथा उनके देवी देवताओं के चिन्हों की उत्पत्ति हुई, जिसके द्वारा उन्होंने एक जादूगर की भांति आत्माओं को बुलाने का प्रयत्न किया जिससे भय और प्रेरणा उत्पन्न हो अथवा प्रार्थना की कि उनके शत्रुओं को दंड मिले तथा दुर्गति प्राप्त हो और उनके समुदाय को सौभाग्य तथा शुभकामना मिले।

धार्मिक पूजापाठ करने वाली जाति में मानुषबलि असामान्य नहीं है। हम पीछे देख चुके हैं कि ऐसी धार्मिक कर्म पद्धतियाँ सांकेतिक अभिव्यंजन हैं और उनसे सम्वन्धित हर वस्तु एक विशेष अभिप्राय तथा अर्थ प्रदर्शित करती है। वैज्ञानिक नरतत्वीय अन्वेषण द्वारा हम केवल आदिम जातियों के व्यवहार के भिन्न भिन्न प्रकारों का ही संग्रह नहीं करते हैं, वरन कला-रूपों के सृजन करने की जाति-गत लाक्षणिक प्रेरणा तथा निमित्त का भी पता पाते हैं। उनके द्वारा प्रदर्शित लालित्य-भावना उनके नैसर्गिक जीव शास्त्र निमित्त से किसी प्रकार सम्बन्धित नहीं की जा सकती। उन्होंने सदा उपयोगी कला के उत्पादन करने का ही प्रयत्न नहीं किया। उत्तरी साईबेरिया के ऐसकिमो अथवा कोनायक जैसी आदिम जातियाँ विलक्षण वस्तुएँ तथा कभी कभी अति अनुपयोगी वस्तुओं का निर्माण करती हैं। इसका कोई अन्य कारण नहीं मिलता सिवाय इसके कि उनमें अफ्रीकन उद्गम की कौतूहल पूर्ण तथा विस्तृत लकड़ी की नक्काशी से सौंदर्य प्रेरणा हुई हो। मेकज़िको के आदिकालीन खिलौने तथा आलङ्कारिक प्रतिमायें (patterns) स्पष्ट रूप से बच्चों के विनोदार्थ बनाई गई थीं। वह धार्मिक कर्म पद्धति जिसने कला को प्रेरणा दी कुछ अंश तक भौतिक तथा आर्थिक आवश्यकता के कारण उदय हुई परन्तु यह मानव जाति में धर्म तथा सौंदर्य की प्रेरणा की परस्पर क्रिया के परिणाम स्वरूप भी समझी जा सकती है। यूनान की अति उन्नतिशील सभ्यता में भी धार्मिक कर्म पद्धति के लाक्षणिक संकेतों की कमी नहीं है। भूतकाल के गर्भ से ही भविष्य का सदा जन्म हुआ है। यूनान की मूर्तिपूजक कला में आदिकालीन धार्मिक कर्म पद्धति के कुछ अप्रचलित चिन्ह हमें मिलते हैं। इसी प्रकार यहूदियों की कल्पित कथायें तथा धार्मिक कर्म पद्धति कैथालिक ईसाई धर्म निष्ठा में फिर से पुनर्वासित हो गईं। यद्यपि धार्मिक कर्म पद्धति तथा सांकेतिक प्रयोग स्थानीय परिस्थितियों तथा जन समाज की रीति रिवाज के अनुसार रूप बदलते रहते हैं उनके भाव व्यक्त करने के लिए जो कला-रूप प्रयोग में आते हैं वे विश्व में सर्वत्र विशेषकर अभिन्न रूप ही धारण करते हैं। जीवन संघर्ष ने मानव को हर प्रकार के धार्मिक कर्म सम्बन्धित रीति रिवाजों तथा बलिदान की कल्पना करने तथा योजना बनाने के लिए उत्साहित किया। उन्हें अपने जीवन के संरक्षणार्थ भीषण पशुओं तथा निकट-

सम्पन्नता का भी परिचय देता है। उन्होंने यह मुख्य भाव प्रकृति से पर्याप्त रूप से अनुकरण किए परन्तु अपने लय तथा आकृति के ज्ञानानुसार उसमें सुधार तथा परिवर्तन भी किये। निश्चित पृथक्करण के साथ प्राकृतिक विषयों का इस प्रकार स्वतंत्र अनुकूलन भी उनकी परिकल्पना के अनेक प्रकरणों में विलक्षणता का कारण स्पष्ट कर देती है।

इस प्रकार आदि मानव को धार्मिक कर्मों की पद्धति से लय हेतु प्रेरणा मिली। लय जीवन सिद्धि की शक्तियुक्त अभिव्यंजना है। यही लय की प्रेरणा विजयी सैनिक अथवा सफल शिकारी के अंगों द्वारा विविध धाराओं में तरङ्गमय होती है और दैनिक जीवन के व्यवहार विधान द्वारा तथा उसी में होकर बहती है। इसी प्रेरणा को चित्रकार, मूर्तिकार तथा काव्य रचनाकारों ने अपनी अपनी कला के निर्माण में युग प्रति युग ग्रहण किया है और अमर कर दिया है। धार्मिक कर्म पद्धति ने जीवन के आर्थिक अथवा वाणिज्य-दृष्टि से सदा स्पष्ट सम्बंध नहीं रखा है और इसी कारण उसने ऐसे कला-रूपों का अनुसंधान किया है, जिसका उद्देश्य उसकी उपयोगिता न होकर उसका कलात्मक गुण था। आदिम मानव अवश्य साधारणतः अपनी अनेक धार्मिक कर्म पद्धति द्वारा दुष्ट प्रेतात्माओं को दूर रखने के लिए उत्सुक रहता था। सभ्यता के आगमन से विश्व रहस्य क्षीण होता गया परन्तु आदिम मानव नग्न आकाश तले निवास करता था और भौतिक स्थिति के ऐसे निरन्तर परिवर्तन से मुठभेड़ करता रहता था जैसे ज्वाला-मुखी विस्फोट, बनाग्नि, जल-प्रलय, अनावृष्टि तथा भयंकर तूफ़ान। प्रकृति के इतने निकट होने के कारण उन्होंने ऐसे चमत्कारों से समावेशित रहस्यमय आत्माओं की सहायता लेने की चेष्टा की जिससे उनकी जीवन स्थिति में उनकी आवश्यकताओं तथा घटनाक्रम के अनुकूल परिवर्तन हो जाय। इसी से पिशाचपूजन, गुप्त सूचक चिन्ह पर आधारित सिद्धान्त तथा ब्रह्मवाद की उत्पत्ति हुई। पूजन को आकर्षित तथा प्रभावशाली बनाने के लिए उन्होंने उसको ललित कला का रूप देने का प्रयत्न किया और इस प्रकार धर्म की आवश्यकता के साथ-साथ कलापूर्ण कृति की अभियाचना भी बढ़ती गई।

धार्मिक कर्म पद्धति से सम्बन्धित सांकेतिक चिन्ह तीन भिन्न वर्गों में विभाजित किए गए हैं—(१) आदि जातियों के देवताओं की आकृतियाँ तथा गुप्त सूचक चिन्ह, (२) देवी देवताओं के लाक्षणिक चिन्ह तथा मूर्तियाँ, और (३) पूर्वजों की प्रतिमायें अथवा पुतले। आदि जातियों के देवताओं की आकृतियाँ तथा गुप्त सूचक चिन्ह उनके वंशजों के बिल्लों के रूप में व्यवहार में आते थे और कभी कभी खम्भों पर सुन्दरता से खोद कर बनाये जाते थे। इसी प्रकार के अन्य लाक्षणिक चिन्ह गाँव के मुखिया अथवा पुरोहितों के चिन्ह रूप प्रयोग में आते थे। यह एक विशेष यन्त्र द्वारा शरीर में गोद दिए जाते हैं या एक असाधारण वस्त्र अथवा अलंकृत उष्णीष के रूप में धारण किया जाता है। पूर्वजों की प्रतिमायें कुल या जाति के कल्याण के लिए बनाई जाती थीं। धार्मिक कर्म पद्धति द्वारा भेंट तथा बलिदान की प्रथा का विस्तार हुआ। आदिम मानव द्वारा जिन धार्मिक कर्म पद्धति सम्बन्धित कला-आकृतियों का अभिव्यंजन हुआ वह इस प्रकार श्रेणी

वृद्ध किया जा सकता है—(१) पौराणिक उपकथाओं का कहानी-वर्णन तथा कविता-पाठ जिसमें परिमित ताल-सहित सङ्गीत का समावेश भी होता था, (२) नाटकीय अभिनय में मुखावरण सहित नृत्य के साथ हाव भाव दिखलाने तथा नकल करने की कला, (३) मूर्ति तथा चित्र कला अर्थात चित्रकारी, नक्काशी, कपड़ा बुनना तथा मिट्टी के खिलौने या बर्तन बनाना। आदिम मानव का जादू टोने द्वारा आरोग्य प्राप्त करने में विश्वास होने से भांति भांति की विशिष्ट संकेत-विद्या तथा उनके देवी देवताओं के चिन्हों की उत्पत्ति हुई, जिसके द्वारा उन्होंने एक जादूगर की भांति आत्माओं को बुलाने का प्रयत्न किया जिससे भय और प्रेरणा उत्पन्न हो अथवा प्रार्थना की कि उनके शत्रुओं को दंड मिले तथा दुर्गति प्राप्त हो और उनके समुदायं को सौभाग्य तथा शुभकामना मिले।

धार्मिक पूजापाठ करने वाली जाति में मानुषबलि असामान्य नहीं है। हम पीछे देख चुके हैं कि ऐसी धार्मिक कर्म पद्धतियाँ सांकेतिक अभिव्यंजन हैं और उनसे सम्बन्धित हर वस्तु एक विशेष अभिप्राय तथा अर्थ प्रदर्शित करती है। वैज्ञानिक नरतत्वीय अन्वेषण द्वारा हम केवल आदिम जातियों के व्यवहार के भिन्न भिन्न प्रकारों का ही संग्रह नहीं करते हैं, वरन कला-रूपों के सृजन करने की जाति-गत लाक्षणिक प्रेरणा तथा निमित्त का भी पता पाते हैं। उनके द्वारा प्रदर्शित लालित्य-भावना उनके नैसर्गिक जीव शास्त्र निमित्त से किसी प्रकार सम्बन्धित नहीं की जा सकती। उन्होंने सदा उपयोगी कला के उत्पादन करने का ही प्रयत्न नहीं किया। उत्तरी साईबेरिया के ऐसकिमो अथवा कोनायक जैसी आदिम जातियाँ विलक्षण वस्तुएँ तथा कभी कभी अति अनुपयोगी वस्तुओं का निर्माण करती हैं। इसका कोई अन्य कारण नहीं मिलता सिवाय इसके कि उनमें अफ्रीकन उद्गम की कौतूहल पूर्ण तथा विस्तृत लकड़ी की नक्काशी से सौंदर्य प्रेरणा हुई हो। मेकज़िको के आदिकालीन खिलौने तथा आलङ्कारिक प्रतिमायें (patterns) स्पष्ट रूप से बच्चों के विनोदार्थ बनाई गई थीं। वह धार्मिक कर्म पद्धति जिसने कला को प्रेरणा दी कुछ अंश तक भौतिक तथा आर्थिक आवश्यकता के कारण उदय हुई परन्तु यह मानव जाति में धर्म तथा सौंदर्य की प्रेरणा की परस्पर क्रिया के परिणाम स्वरूप भी समझी जा सकती है। यूनान की अति उन्नतिशील सभ्यता में भी धार्मिक कर्म पद्धति के लाक्षणिक संकेतों की कमी नहीं है। भूतकाल के गर्भ से ही भविष्य का सदा जन्म हुआ है। यूनान की मूर्तिपूजक कला में आदिकालीन धार्मिक कर्म पद्धति के कुछ अप्रचलित चिन्ह हमें मिलते हैं। इसी प्रकार यहूदियों की कल्पित कथायें तथा धार्मिक कर्म पद्धति कैथालिक ईसाई धर्म निष्ठा में फिर से पुनर्वासित हो गईं। यद्यपि धार्मिक कर्म पद्धति तथा सांकेतिक प्रयोग स्थानीय परिस्थितियों तथा जन समाज की रीति रिवाज के अनुसार रूप बदलते रहते हैं उनके भाव व्यक्त करने के लिए जो कला-रूप प्रयोग में आते हैं वे विश्व में सर्वत्र विशेषकर अभिन्न रूप ही धारण करते हैं। जीवन संघर्ष ने मानव को हर प्रकार के धार्मिक कर्म सम्बन्धित रीति रिवाजों तथा बलिदान की कल्पना करने तथा योजना बनाने के लिए उत्साहित किया। उन्हें अपने जीवन के संरक्षणार्थ भीषण पशुओं तथा निकट-

वर्ती जातियों से जो उनकी मूल्यवान सम्पत्ति को सदा लूटमार कर हड़पने का प्रयत्न करती थीं संघर्ष लेना पड़ा।

आदिकालीन जङ्गली जातियों के देवी देवता, जादू टोना तथा मूर्ति पूजन के हम अनेक दृष्टान्त दे सकते हैं। न्यूगिनी देश में सुअर पालने वाले जादू टोने का इसलिए प्रयोग करते हैं कि उनकी व्यापारिक वस्तु में वृद्धि हो और उनका अच्छा मूल्य मिले और एक स्थान से दूसरे स्थान ले जाने में कोई क्षति न हो। ट्रोबीएंड द्वीप के निवासी (Trobiand Islanders) अपनी नई डोंगियों के जलावतरण के समय विशेष संस्कार का प्रयोग करते हैं। न्यूजीलैण्ड की माऊरी, (Maori) जाति के विचार से एक पुजारी में 'तीन बाल्टी बुद्धि' है। एक पुजारी के लिए शान्ति तथा विप्लव के समय की धार्मिक कर्म पद्धति का ज्ञान आवश्यक है। कुछ जातियों में ऐसी धार्मिक कर्म पद्धति के लिए एक जटिल व्यवस्था है और उनके पुजारी को अपने जीवन में अनेक वस्तुओं के त्याग करने की कड़ी शिक्षा दी जाती है जैसे चूहे, साँप, बन्दर तथा साही का भक्षण और श्वेत तथा नीले रंग के अतिरिक्त और किसी रंग के वस्त्र धारण करना। उसे नियत नियमानुसार खाना मिलता है और एक विशेष प्रकार के बने हुए घेरे में रहना होता है। उसे दिन प्रति दिन रीति के अनुसार कुछ विशेष संस्कारों का अनुष्ठान करना पड़ता है अर्थात उसे उस जाति के निश्चित नियमों का पालन करना पड़ता है और स्वयं अपनी ओर से उसका व्यक्तिगत प्रोत्साहन (Initiative) कभी भी सहन नहीं किया जाता। मेकजिको की जूनी जाति की धार्मिक कर्म पद्धति अति कलात्मक तथा काव्यात्मक है। प्रेत-पूजा से सम्बन्धित उनकी एक गुप्त संस्था है। वे ईश्वरेच्छा जानने के हेतु स्तुति करेंगे वलि देंगे और प्रायश्चित भी करेंगे और उसकी इच्छानुसार कार्य भी करेंगे।

आदिम कला तथा संस्कृति उच्चकोटि की मानसिक सभ्यता पर, जिसने तदनन्तर उन्नति की, सदा प्रभाव डालती रही है। इसकी उपेक्षा नहीं करना चाहिए। हिन्दू, बौद्ध तथा ईसाई धर्म की पूजन रीति में बहुत से आदि कालीन धार्मिक कर्म पद्धति भिन्न भिन्न प्रकार की आकृतियों में अन्तर्हित हैं और इसी कारण क्रास, त्रिशूल, चन्द्र तथा स्वस्तिका जैसे मुख्य भाव और लाक्षणिक चिन्ह इस समय भी दृष्टिगोचर होते हैं। नरतत्वीय विज्ञान के विद्यार्थी जानते हैं कि आदिम मानव ने अग्नि के आविष्कार से किस प्रकार अन्य पदार्थों का ज्ञान प्राप्त किया जो कि प्रायः चमत्कारिक (phenomenal) रीति से विकसित होते गए। प्राकृतिक गुफा-गृहों में रहने के समय जो मृतक शरीर के दाह कर्म करने के लिए बड़े-बड़े पत्थरों से बनाए गए भवन का निर्माण किया गया इससे गृह निर्माण विद्या के आरम्भ का पता चलता है। यह 'मृतक-गृह' जिस नाम से भारत की मुण्डा जाति (Mundas) इसे पुकारती हैं कुछ शिलाओं को सीधा खड़ा करके उसके ऊपर पट शिलायें डाल कर बनाए जाते हैं। माल्टा देश में एक १२'×९' नाप की शिला न मालूम किस अद्भुत रीति से छत बनाकर रखी जाती थी कि जिस से विश्व अब तक अनभिज्ञ है। लेकिन आदिम मानव का सब से महान अंश योगदान है धार्मिक कर्म पद्धति-सम्बन्धित कला द्वारा लय-ज्ञान की प्रगति जो कि मानव

जाति की समस्त महान कलाओं का आवश्यक स्रोत है। बंगाल की अनेक लोक कला सम्बन्धित धार्मिक कर्म पद्धतियाँ जैसे इतुपूजन, मनसापूजन तथा पुण्यपुखर-व्रत आदिम सभ्यता के अवशेष हैं। भारत में बहुत सी आदिम जातियाँ जैसे नागा, कूकी, मुण्डा, भील, कोल तथा संताल, सिंधु तथा गंगा घाटी में बसे हुए आर्य लोगों के साथ रहती थीं और कभी कभी उनकी भिन्न प्रकार से सेवा भी करती थीं। बंगाल में 'अल्पना' नामक एक विचित्र प्रकार की रचना उत्सव संबंधी अवसरों पर अब भी उपयोग में आती है (देखिये चित्र सं० १२)। आदिकालीन वस्तुएँ जैसे भाला, तीर, कमान और मिट्टी के पात्र के कुछ आकार फर्श पर चावल की लेई से साधारण आदिम रीति से बनाए जाते हैं। वैष्णव पुजारियों के मस्तक पर त्रिपुण्ड का पवित्र चिन्ह, हिन्दुओं के अनेक महत्वपूर्ण धार्मिक उत्सवों से 'वसुधारा' का प्रयोग तथा शैवों का त्रिशूल सिंहनपुर की भारतीय गुफा चित्रकारी के अवशेष प्रतीत होते हैं। विश्व की आदिम कलाओं तथा अतिप्रगतिशील आधुनिक सभ्यता के रूपान्तरित धार्मिक कर्म पद्धति सम्बन्धित आकारों में जो विचित्र सादृश्य पाया जाता है उसके अतिरिक्त गतिशील लयज्ञान अभिन्न ही रहा है। अति सौंदर्य युक्त लय का महत्व आदिम मानव के धार्मिक कर्म पद्धति द्वारा ही अस्तित्व में आया। इससे यह प्रकट होता है कि मानव में कला ज्ञान उस समय से बहुत पहले प्रकाश में आ गया था जब कि उन्होंने अग्नि का अन्वेषण करने या अपने विचारों को बीजाक्षरों में लिखने का चिन्तन किया।

भारत में वैदिक युग में ऐसी धार्मिक आदिम कर्म पद्धतियाँ एक विशेष प्रकार के रहस्यवादी धर्म के रूप में विकसित हो गयीं। भारतीय आर्य जाति ने लौकिक रुचि का ज्ञान प्राप्त करने की चेष्टा में अनेक प्रकार के देवी देवताओं का सृजन किया जिनके द्वारा उन्होंने दृष्टि विषयक विश्व के अनेक रूपों को चिन्ह-युक्त करने का प्रयत्न किया। कलाकारों ने इन चिन्ह मुक्त प्रतिमाओं को पूजा करने के हेतु लकड़ी तथा पत्थर में रूप दे दिया। यह भारतीय कला और धर्म में क्रमशः निर्धारित तथा प्रायः स्थिर आदर्श बन गए। आदिम जातियों के छोटे-छोटे सांके-तिक चिन्ह जैसे त्रिशूल, चक्र तथा स्वस्तिका में बहुत कम रूप भेद हुए। इन प्रति-माओं की समान रुपता को उनके आलङ्कारिक तथा परम्परागत आकारों से जो कि आदि कालीन धार्मिक कर्म पद्धति सम्बन्धित विशेषताओं से अनुजीवित रहीं निश्चिय किया जा सकता है। भारतीय मूर्तिकला की प्रतिमाओं तथा चित्रों में त्रिभंग, क्षणभङ्ग तथा अतिभङ्ग नामिक रुढ़िगत लययुक्त रूपों की विचित्र भाव भङ्गी वाली मुद्राएँ देखकर हम आश्चर्ययुक्त हो जाते हैं। यदि उनकी उत्पत्ति के उद्गम अथवा प्राचीन धार्मिक कर्म पद्धति सम्बन्धित कला की ओर अग्रसर हों तो हम उनको भली प्रकार समझ सकते हैं।

भारत में आदिम कला के उदाहरण सिंहनपुर की राजगढ़ रियासत में, होशंगाबाद में (देखिये चित्र सं० ३), मिर्जापुर जिले के लिखुनिया, कोहमर तथा बलद्दरिया स्थानों में चक्रधरपुर के नदी-तट पर तथा विजयगढ़ की गुफाओं में मिलते हैं। घटशिला तथा विन्ध्य पर्वत-श्रेणी के भिन्न भिन्न भागों के अतिरिक्त ऐसे चित्र या तो शिलाओं में काट कर या सूअर की चर्बी द्वारा तरह तरह के रंग

मिला कर उन पर अंकित किए गए हैं। उनमें से अधिकतर बिना किसी आड़ के हैं और समय तथा ऋतु के विनाशक प्रभाव से अरक्षित हैं। वे कुशल चित्रकारों के अभ्यस्त हाथों द्वारा अंकित किए गए हैं और उनके रंग चमकदार तथा सजीव हैं।

सिंहनपुर के शिला-चित्र राजगढ़ रियासत की राजधानी रायगढ़ से ११ मील दूरी पर स्थित हैं और वहाँ उत्तर-पूर्वीय रेलवे के नाहरपली स्टेशन द्वारा पहुँचा जा सकता है। जहाँ यह चित्र पाये जाते हैं उन गुफ़ा-गृहों तक पहुँचने का मार्ग साल वृक्ष के घने जङ्गलों से पटा पड़ा है जिसके कारण वहाँ का दृश्य अति मनोरम प्रतीत होता है। इनमें से कुछ तो चित्रित किए गए हैं तथा शेष गुफ़ा की दीवालों में खोद कर गढ़े गए हैं। अधिकतर चित्र इतनी ऊँचाई पर बने हैं कि बिना सीढ़ी की सहायता के उनका भली प्रकार निरीक्षण भी सम्भव नहीं। ये चित्र प्रायः लाल और पीली मिट्टी से रंग कर निर्माणित हैं। हिरन, छिपकिली, जङ्गली भैंसे आदि पशु बहुतायत से बने हुए हैं। उनमें से एक क्रम में शिकार का दृश्य विस्तार पूर्वक दिखाया गया है। शिकारियों का समूह एक जङ्गली भैंसे का पीछा कर रहा है। कुछ शिकारी वस्त्र पहने हैं तथा कुछ नग्नावस्था में हैं जो सम्भवतः बच्चे हैं और छड़ी लेकर उनसे आगे बढ़ गए हैं। भैंसे का सर हू बहू चित्रित किया गया है जिससे उस समय के चित्रकारों की निरीक्षण शक्ति के विकास का प्रमाण मिलता है। मानुष प्रतिमायें रूढ़िगत कला के शैशवकाल की निदर्शक हैं। इन चित्रों की विशेषता आदर्श मूर्तियों को इतनी वास्तविकता प्रदान करने में है कि देखने वाले को शिकारियों की उत्तेजना की ध्वनि प्रायः सुनाई सी पड़ती है और हम शिकार में उनके हृदय की धड़कन को भी जैसे सुन सकते हों। एक दूसरे चित्र में ऐसा प्रतीत होता है कि मनुष्य भैंसे से शायद बच न सकेगा। अन्य एक चित्र में प्रत्यक्षतः आकार में कुछ बड़ा एक वृद्ध पुरुष दोनों हाथ ऊपर फैलाए दो युवकों के साथ त्रिशूल के चारों ओर नाच रहा है। सम्भवतः वह किसी उत्सव में लवलीन हैं। इन चित्रों में कुछ नृत्यादि के भी नमूने हैं जो उस समय के कलापूर्ण तीव्र लयज्ञान के विकास के प्रमाण स्वरूप हैं।

मध्य प्रदेश के होशंगाबाद शहर से २१ मील की दूरी पर आदमगढ़ के बलुआ पत्थर की चट्टानों में प्रागैतिहासिक चित्रों का एक चित्ताकर्षक अनुक्रम मिलता है जो प्रथमदृष्टि में बालकों की अस्पष्ट लिपि सी प्रतीत होती है परन्तु वस्तुतः यह बालिश प्रयास से एकदम भिन्न है। यह मानव आविष्कार के प्रथम श्रेणी के प्रयत्न हैं जिनमें चित्र-संकेत द्वारा भावनाओं का अभिव्यंजन किया है और मानव के सर्व प्रथम सम्पादित कार्यों के इतिहास में वे एक विशेष महत्व रखते हैं (देखिये चित्र सं० ४)। होशंगाबाद के चित्र-समूह में एक दृश्य में एक जन समूह को घोड़ों पर बिना काठी के सवार दिखाया गया है। प्रत्यक्ष में वे चतुर सवार थे और अपने अर्धउन्मत्त घोड़ों पर आश्चर्यजनक निग्रह रखते थे। एक घोड़ा अपने मुख में सवार की लुङ्गी पकड़कर उसे गिराने का प्रयत्न करते हुए प्रदर्शित किया है। दूसरा सवार इस अभागे पुरुष के पीछे अपने घोड़े को ठीक लक्ष्य की ओर ले जाने में बड़ी विषमता का अनुभव प्रतीत कर रहा है। उसके हाथ में एक डंडा है

चित्र नं० ४ प्रागैतिहासिक गुफ़ा चित्रकारी, होशंगाबाद ।

और कंधे पर एक गठरी बंधी हुई है जिसके कारण सर्वथा सन्तुलन-रहित प्रतीत हो रहा है। जङ्गली घोड़े तथा उनके विलक्षण सवार और सबसे पीछे तलवार तथा ढाल लिए हुए एक मनुष्य इन चित्रों की लम्बी पंक्ति में विलक्षणता दर्शाती है जिससे हम पाषाणयुग के मानव के भाव तथा विचारों का अध्ययन कर सकते हैं। होशंगाबाद के एक और चित्र में काली पीठिका पर पीली मिट्टी से रंगा हुआ एक बारह सिंघा अंकित है जो कि भागता हुआ प्रतीत होता है।

बिहार के सिंघभूमि जिले में चक्रधरपुर में संजोई नदी के शिलामय तल पर अनेक प्रागैतिहासिक प्रमाण मिलते हैं। ऐतिहासिकों का मत है कि वे लगभग तीस हज़ार वर्ष पूर्व के हैं। कुछ रेखाचित्र इसी जिले में घटशिला सुवर्णरेखा से कुछ मील दूर नदी के शिलामय तल में पाई गई हैं। मऊ भण्डार ग्राम में एक बहुत बड़ी घिसी हुई शिला पर एक विशाल मानव प्रतिमा उट्टङ्कित की गई है। वहाँ कुछ और भी अवशेष चित्र हैं जिनमें तीन मनुष्यों को अपनी पीठ पर चित लेटे हुए प्रदर्शित किया है और उनके चारों ओर ईंटों के टुकड़े फैले पड़े हैं। उनमें से एक के ऊपर कमान रक्खी हुई है और उनके समीप तीन और पुरुष हैं जो अपने हाथ फैला कर अपनी विजय की घोषणा कर रहे हैं। नृतत्त्वज्ञों के मतानुसार वे आदि आस्ट्रेलियन वर्ग के प्रतिरूप हैं जो कई हज़ार वर्ष पूर्व भारत में आये थे। इसके प्रमाण स्वरूप उनके स्थापित होने के कुछ चिन्ह भी वहाँ मिलते हैं। इस वर्ग के चित्रलेखन के अन्य निदर्शन मिर्जापुर जिले में विन्ध्य समस्थल पर सोन नदी के किनारे भी हैं। इस जिले में लिखुनिया, कोहबर, बलदरिया, महररिया तथा विजयगढ़ में भी ऐसे चित्र मिले हैं, महररिया ग्राम के समीप शिला चट्टानों पर उनमें अधिकांश या तो चित्रित या उट्टङ्कित किये गये हैं। उनमें से विजयगढ़ की चित्रकारी उस पहाड़ी पर मिलती है जहाँ कि विजयगढ़ का प्रसिद्ध गढ़ है। वहीं पर गारा नदी पहाड़ी से १०० फीट की ऊँचाई से गिरी है जो कि अन्त में एक छोटी सी नदी हो गई। इसी के किनारे लिखुनिया गुफ़ायें स्थित हैं। यह स्थान घने जङ्गलों से ढका हुआ है और 'बाबरनामा' से हमें पता चलता है कि यह स्थान शेर, हाथी, गैंडा, जङ्गली सांड तथा जङ्गली भैंसों के वहाँ विचरने के कारण एक अच्छा शिकारगाह था। मिर्जापुर वर्ग के चित्र समूहों में भागने, घुड़सवारी तथा शिकार के दृश्य पाये जाते हैं। इस स्थान की समस्त चित्रकारी एक ही युग की नहीं है। वे प्रायः प्रागैतिहासिक युग से दसवीं शताब्दी तक फैली हुई है। गुफ़ा निवासी अपने पत्थर तथा हड्डी के यन्त्रों को विविध प्रतिमाओं से सुसज्जित करते थे।

इस पाषाण-युग के शिला चित्रों का आलेख करने के पश्चात कई युग बीत गए। इसके बाद सिंध नदी की घाटी में मोहनजोदड़ो तथा हड़प्पा से खोद कर निकाली गई मिट्टी के बरतनों पर की गई चित्रकारी के कुछ अंश मिलते हैं। यह चित्रकारी बरतनों तथा दैनिक प्रयोग की अन्य वस्तुओं के सुसज्जित करने के उद्देश्य से की गई थी। वह आकार जो बारह सिंघे की पंक्ति अथवा अन्य भिन्न प्रकार के पुष्पों की ओर संकेत करते हैं यह दर्शाते हैं कि उस दूरवर्ती युग में भी ऐसे चतुर कलाकार विद्यमान थे जिन्हें लय ताल तथा तुल्यता संगति का यथार्थ ज्ञान था। यह आकार देखने में ऐसे सुश्लिष्ट हैं कि वे आधुनिक समय के कला-आलोचक की

कठोर से कठोर परीक्षा में उत्तीर्ण हो सकते हैं। मिट्टी के बरतनों पर चित्रित कुछ परम्परा सम्मत निर्धारित मनुष्य आकृतियाँ गुफा-मानव की चित्रकारी जो कि उससे सहस्रों वर्ष पूर्व रचित हुई थी के कुछ-कुछ सदृश प्रतीत होती हैं। प्राकृतिक वस्तुओं के वास्तविक रूपनिर्माण ने ताल लय तथा आकृति के सुन्दर ज्ञान सहित सिन्धु घाटी में ऐसी कला का उत्पादन किया जो अपनी श्रेणी में अद्वितीय है। कलाकार की यथार्थता के हेतु चेतनायुक्त भाव तथा उनके प्रसाधन-भावना ने ऐसी सुन्दर वस्तुओं के उत्पादन में चमत्कार कर दिखाया। आधुनिक मनुष्य जाति इस विषय पर अति अपमिश्रित ज्ञान रखते हुए भी उस संवेदनपूर्ण संज्ञाशील कार्य क्षेत्र में फिर वापिस नहीं पहुँच सकती।

मोहनजोदड़ो की मुहर

मोहन जोदड़ो के एक कमरे में कई मुद्रायें मिली हैं (देखिये चित्र नं० २)। जिसमें एक ऐसी मुद्रा मिली है जिस पर एक प्रतिमा खुदी हुई है जो बेबीलोन के विराट देवता का स्मरण कराती है। इसमें सींग लगे हुए हैं और अपने दाहिने हाथ में एक बक्स पकड़े हुए है तथा पत्तों जैसा वस्त्र धारण किए हुए है। मिट्टी के वर्तन तथा मूर्तियाँ भी अनेकों मिली हैं। अधिकतर मूर्तियों की कमर के चारों ओर एक प्रकार की पतली करधनी जैसी है। वे सर पर एक विशेष प्रकार की पंख जैसी पगड़ी पहने हैं। इन प्रतिमाओं में विशेषता यह है कि वे सर के दोनों ओर आलपीन जैसी कोई वस्तु खोंसे हुए हैं, स्त्रियों की अधिकतर प्रतिमायें रत्नजटित आभूषणों से सुसज्जित हैं! प्रतिमायें जो सर पर विस्तृत शिरोभूषण तथा जेवर पहने हैं सम्भवतः पवित्र प्रतिमायें हैं। यह वहाँ पर बहुतायत से हैं और पुरातत्व वेत्ताओं का मत है कि वे बहुत सुन्दर बनाई गई हैं और गृहस्वामियों द्वारा न बनाई जाकर सम्भवतः व्यवसायिक कुम्हारों द्वारा उनका निर्माण हुआ है।

मोहनजोदड़ो तथा हड़प्पा के अन्वेषण के पश्चात हम वैदिक युग की ओर किसी कलाकृति को नहीं पाते हैं सिवाय इन थोड़े से चित्र के अंशों के जो मध्य प्रदेश के सरगुजा रियासत में जोगीमारा की गुफाओं में मिले हैं (देखिये चित्र नं० ३)। यह प्रागैतिहासिक कला की अविच्छिन्नता को प्रमाणित करती है
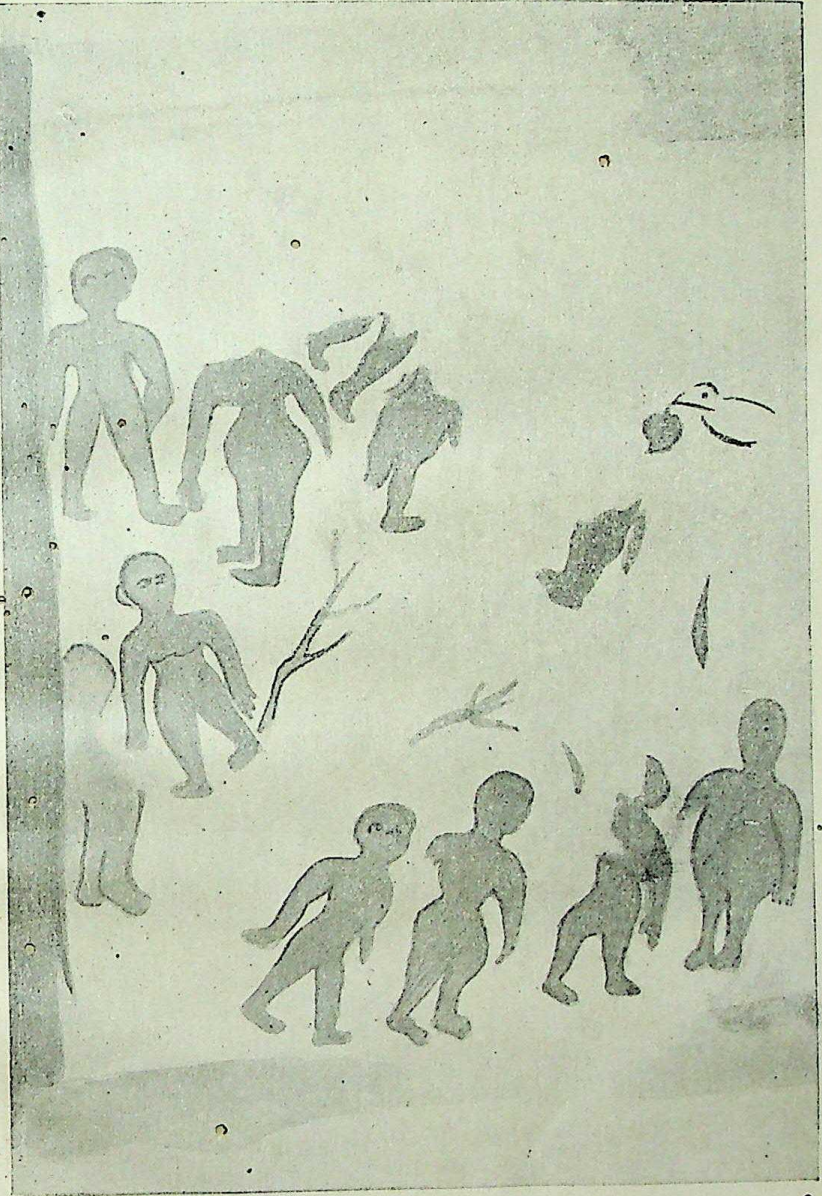
चित्र नं० ३ जोगीमारा कन्दरा चित्रकारी (ई० पूर्व ३००)।

जो बौद्ध काल की अति उन्नतिशील कला के आगमन तक रही। पुरातन कला-युगों के बीच दीर्घ व्यवधान तब तक असंहित ही रहेंगे जब तक अवान्तरकालीन सूत्रों को जोड़ने वाले निदर्शन नवीन खोज द्वारा प्राप्त नहीं हो जाते। पूर्व बौद्ध काल के प्राचीन साहित्य (रामायण तथा महाभारत) में चित्र लेखन कला का उल्लेख किया गया है। चित्रलेखन कला के नियमों का अनेक शताब्दियों के कलाकारों के अनुभव द्वारा क्रमशः विकास होता गया और इस प्रकार एक अति शुद्ध कला का विकास हुआ। जोगीमारा के गुफ़ा-चित्र भारत की अति विकसित ललित कला के प्रतिरूप होने का दावा नहीं कर सकते परन्तु वह स्वयं अपनी एक अलग श्रेणी में ही माने जा सकते हैं। यह चित्र मुख्यतः हाथियों, रथों तथा मकरों (मगर) के जलूस ही हैं। मानव प्रतिमायें अपने अभिव्यंजन में सर्वथा आदिमकालीन ही हैं। इनमें रंगों का प्रयोग केवल काले लाल तथा पीले रंगों तक ही सीमित है। जोगीमारा गुफ़ाओं की चित्रकारी प्राकृतिक गुफ़ा-गृहों की खुरदरी सतह पर जो केवल १० फीट चौड़ी है की गई है। पुरातन वेत्ताओं का अनुमान है कि यह चित्र अशोक-युग से पहले के हैं और लगभग ईसा मसीह से ३०० वर्ष पूर्व निष्पादित हुए। यह स्थान पंडेरा रोड के निकटतम रेलवे स्टेशन से १०० मील की दूरी पर स्थित है और वहाँ तक पहुँचना कठिन है।

जैसे-जैसे पृथ्वी के अन्य जीव जन्तु अपने नये वातावरण से अनुरूप होने के हेतु अपने आचार व्यवहार में परिवर्तन करते गये उसी प्रकार मानव ने भी जब वातावरण में परिवर्तन का समावेश देखा तो अपनी कलापूर्ण रीति और भावाभिव्यंजन को भी बदल दिया। परन्तु उसको अपने आदिम स्वभाव की ओर जो स्वाभाविक सीधा साधा तथा प्रवर्तित है लौटना ही उचित था। यही कारण है कि हम सकल कलापूर्ण सृष्टि में आधारभूत मनोवैज्ञानिक समन्वय पाते हैं। इसी लिये हमको यह देखकर आश्चर्य नहीं होता कि अति सभ्य यन्त्र-प्रधान विश्व में यूरोप के अत्याधुनिक कलाकार अपनी प्रेरणा के हेतु आदिम (तमस-प्रधान) स्रोत की ओर वापिस जा रहे हैं। उनके वैज्ञानिक मस्तिष्क उस संचरणशील विज्ञान (Dynamism) को समझते हैं जो जंगली कला अभिव्जंन में समाविष्ट है और इस प्रकार रोमांचक कला के स्वाभाविक पथ पर चलना नहीं चाहते जो कि १९वीं शताब्दी में सकल कला अभिव्यंजन का निश्चित लक्ष्य समझा जाता था। इसी कारण उन्होंने रोमांचकारी विचारों की पुरानी रीतियों में शुद्धता खोजने के बदले अपनी क्रिया का नया स्तर नियत करने का प्रयत्न किया।

वस्तुतः इस युग में यूरोप में आदिम कला का फिर से मूल निर्धारित किया जा रहा है और यह कहना अनुचित न होगा कि प्रकाश चित्र विज्ञान, चल-चित्र विज्ञान तथा चित्र-प्रेषण विज्ञान के आगमन से यूरोप में कला का सम्पूर्ण दृष्टिकोण बदल गया है और आधुनिक कलाकारों के कुछ समूह रोमांचक कला की परम्परा का निष्ठापूर्वक अनुसरण नहीं कर सकते। अभिव्यंजन की अपनी नयी पद्धति में आधुनिक कलाकारों के समूह ने प्रकृति को क्रूरता से अपवर्जित कर दिया है और एक प्रतिक्रियावादी परिवर्तन ला दिया है जो कि पृथकवादिता

(abstractionis n) के अतिरिक्त कुछ नहीं है और जो प्रगैतिहासिक मानव की कला से सर्वथा मिली जुली है। प्रागैतिहासिक कला-आकार की परम्परा पिछड़े हुए वर्गों में विश्व के कुछ भागों में जैसे अफ्रीका, दक्खिनी अमेरिका आस्ट्रेलिया तथा इन्डोनेशिया में अब भी दृढ़ है। यूरोप के आधुनिक कलाकारों ने आदिम (तमस-प्रधान) कला को अयोग्य या बेहूदा समझकर उपेक्षा न करके उसके प्रधान लक्षणों को ग्रहण कर लिया है और डाडाइज्म तथा सुररियलिज्म की अनेक क्रियाओं द्वारा उनके मनोवैज्ञानिक भावों की पुनरावृत्ति कर दी है। नवीन कलात्मक आकार चाहे जितने अपूर्ण हों उनके अन्वेषण तथा निर्माण करने का चलन आदिम मानव में निश्चित हो गया था और उत्तरवर्ती पीढ़ियों को अधिक अनुभवों के साथ दूरप्रेषित किया गया। इस वास्तविकता की उपयुक्त व्याख्या द्वारा हम मानव कला की पैतृक संपत्ति के स्तरों को उद्‌घटित कर सकते हैं और कला को उसके यथोचित परिपेक्षण में समझ सकते हैं।
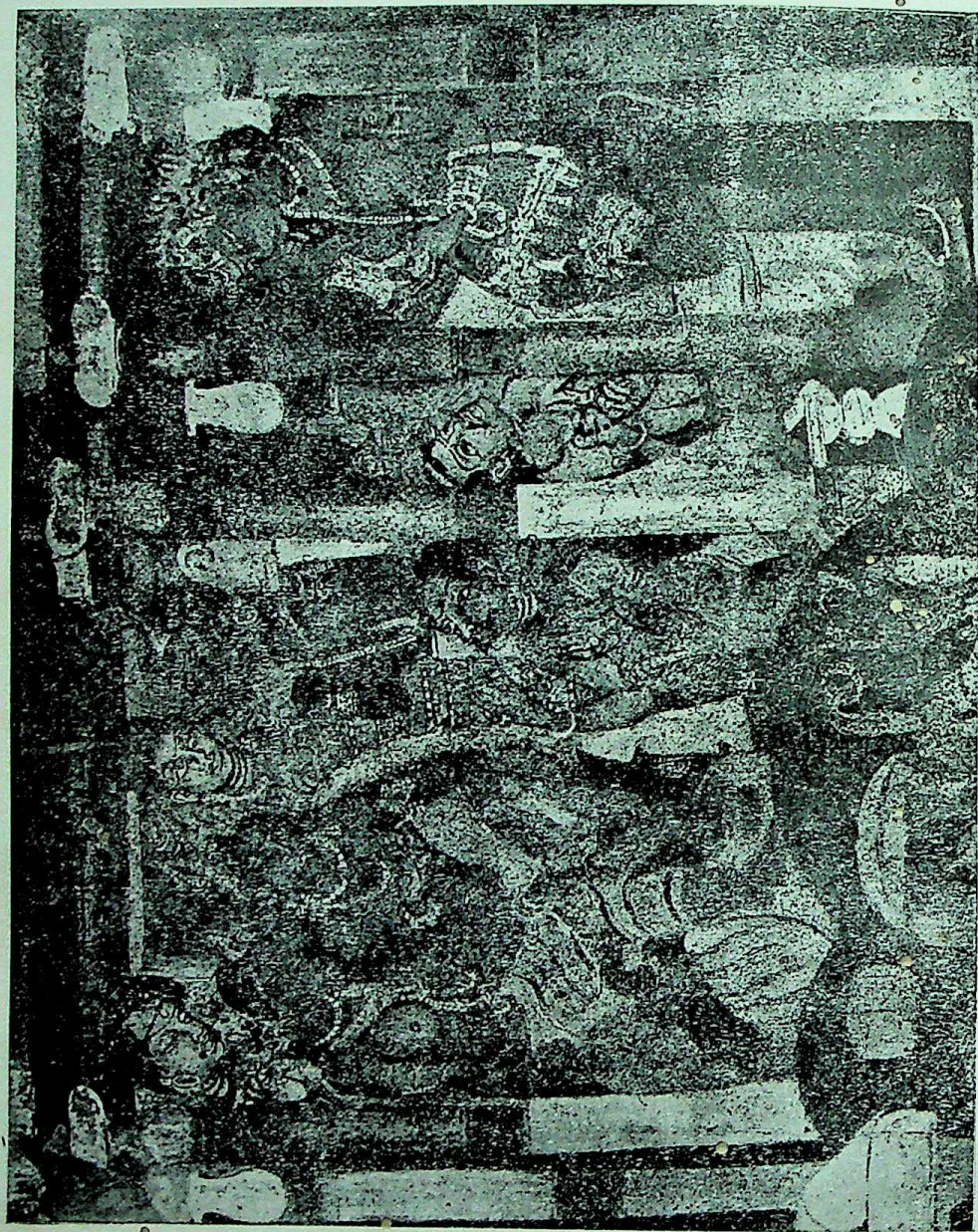
चित्र नं० ५ अजन्ता की भित्त-चित्रकारी नं० (१) पृष्ठ १३.

दो

प्राचीन भित्त चित्रकारी

भारत में प्रागैतिहासिक, प्राक्वैदिक, पूर्व-अशोक (बौद्ध) तथा मुगल कालीन चित्रकारियों के बीच-बीच में बड़ी रिक्तता विद्यमान है। उत्तरोत्तर समयों पर विभिन्न जातियों के निरन्तर आक्रमणों के कारण भारत में भित्त चित्रकारी का कालान्तर में सर्वथा ह्रास हो जाने के फलस्वरूप उसके निर्माण काल का पता लगाना दुष्कर हो गया। वस्तुतः इनके निर्माण की अन्तर्हित टेकनीक कुछ इस प्रकार की थी कि संयोगवश ही उन चित्रों के कुछ चिन्ह, अजन्ता, बाग, सिगिरिया तथा कुछ अन्य स्थानों में शेष रह गये। मध्य प्रदेश में जोगीमारा गुफ़ाओं की पूर्व-अशोक चित्रकारी के पश्चात हैदराबाद-दक्खिन में अजन्ता की गुफ़ाओं की अति विकसित चित्रकारी का उल्लेख किया जा सकता है। (देखिये चित्र नं० ५ व ६)। अजन्ता की गुफ़ाओं की चित्रकारी ई० पू० पहली शताब्दी से लेकर नवीं शताब्दी तक के काल में की गई थी। इस २९ गुफ़ाओं के अनुक्रम का आविष्कार १८१९ ई० में एक अंग्रेजी सेना के दस्ते ने किया था और सर्व प्रथम सन् १८५७ ई० में मेजर गिल ने इसकी प्रतिलिपि तैयार की थी। इसकी पाँच प्रतिलिपियों के अतिरिक्त, जो इस समय लंदन के साऊथ केन्सिंगटन म्यूजियम में प्रदर्शित हैं, शेष सब चित्र जिनका प्रदर्शन बाद में क्रिस्टल पैलेस प्रदर्शनी में किया गया अब अग्नि द्वारा नष्ट हो चुके हैं।

यह बौद्ध गुफ़ा-मठ, समय-समय पर बौद्ध धर्म मत के अनुगामी राजाओं ने वर्षा ऋतु में बौद्ध मुनियों के आश्रय के लिए खुदवा डाले थे। चित्त-गुफ़ायें उपासना-गृहों का काम देती थीं और बिहार श्रेणी की गुफ़ाएँ उपदेशक की सभाओं तथा नए आराधकों के निवास-स्थान के हेतु बनी थीं। परन्तु इन गुफ़ाओं में, भित्त चित्रकारी वास्तव में किसने की और उनकी सम्पूर्ण कृति का अनुमानित काल क्या था कोई भी नहीं बता सकता। इन चित्रों की विषय-वस्तु कुछ महत्वपूर्ण ऐतिहासिक घटनायें तथा महात्मा बुद्ध के जीवन से सम्बन्धित प्रचलित कथायें हैं।

पुल्कशीन द्वितीय के दरबार में ईरानी राजदूत, बंगाल के विजय सिंह का सिंहल द्वीप पर आक्रमण तथा दरबार और जन समुदाय के दैनिक जीवन की अनेक अन्य घटनाओं का, जिनका समकालीन कवियों तथा लेखकों ने अपनी रचनाओं में निरुपण किया है, उल्लेख इस विषय में किया जा सकता है। यह घटनायें सम्पूर्ण दृश्य के रूप इस में प्रकार प्रदर्शित की गई हैं कि प्रत्येक घटना एक समय में पृथक पृथक रूप से दीवार पर सम्पूर्ण चित्र की अनुरूपता बिना नष्ट किये देखी जा सकती है। यह समूह अन्य उप-विभागों के रूप में विभाजित नहीं हैं, और ऐसी चतुराई से निर्मित किए गए हैं कि परिवृत्ति की शिल्पकला सम्बन्धित विशेषताओं के साथ-साथ उसकी सम्पूर्णता का भाव प्रदर्शित करते रहें। यूरोप की भित्त-चित्रकारी इस सम्बन्ध में अति भिन्न है। वे चित्र पृथक-पृथक चौखटे के रूप में बनाए गए हैं और उसी दीवार पर के अंकित अन्य चित्रों की एकता तथा प्रभाव नष्ट किए बिना दीवार पर से हटाये जा सकते हैं।

अभाग्यवश भारत में कलाकारों ने गुफाओं की पत्थर की दीवारों पर चित्र बनाने के लिए जिस आधार का प्रयोग किया था उसका मसाला मिट्टी, गोबर तथा भूसे का बना होने के कारण शीघ्र ही धराशायी हो गया। निज़ाम सरकार ने इन चित्रों को सुधारने के अभिप्राय से दो इटली के विशेषज्ञ बुलवाये थे और उन पर प्रर्याप्त मात्रा में व्यय भी किया था। श्री जॉन ग्रिफ़िथ ने अपनी अमूल्य रचना "अजन्ता की भित्त-चित्रकारी" में तथा लेडी हैरिंघम और श्री यज़दानी ने अजन्ता गुफ़ा-चित्रों के अति उत्तम पांडित्य पूर्ण लेखों में इन चित्रों के विशेष लक्षणों का वर्णन किया है। जान ग्रिफ़िथ तथा लेडी हैरिंघम दोनों ही ने सन् १८७५ ई० से लेकर १८८५ ई० तक तथा सन् १९०९ ई० से लेकर सन् १९११ तक इन भित्ति-चित्रों की प्रतिलिपियां बनाईं। प्रस्तुत पुस्तक के रचयिता श्रीहाल्दार ने भी इस दल के साथ, जिससे वेंकट्टप्पा, समरेन्द्र नाथ गुप्त, नन्दलाल बोस, कुमारी लारचर तथा कुमारी लूक भी थीं, इन प्रतिलिपियों के लेने में सहायता दी। यह प्रतिलिपियां लंदन में साऊथ केसिंगटन लाईब्रेरी के भारतीय विभाग में सुरक्षित हैं। इन चित्रों के गुणों का वर्णन करने के लिए श्री ग्रिफ़िथ तथा श्री बिनयोन के शब्दों को ही दोहरा देना श्रेयस्कर होगा। श्री ग्रिफ़िथ लिखते हैं:—

"वे कलाकार, जिन्होंने उन चित्रों को अंकित किया था भित्त चित्रकारी में अद्वितीय थे। दीवारों की लम्बमान की ओर भी कुछ रेखायें, जो तूलिका के एक ही घसीट में खींच दी गई हैं, मुझे अति आश्चर्यजनक प्रतीत हुईं। परन्तु जब मैंने छत के क्षितिज तल पर जहाँ पर निष्पादन इससे सहस्त्र गुना कठिन है दोष रहित लम्बी पूर्ण वक्र रेखायें खिंची देखीं तो वह मुझे बहुत ही आश्चर्यजनक प्रतीत हुईं।"

श्री लारेन्स विनयोन ने श्री यज़दां की अजंता पर लिखी हुई पुस्तक की भूमिका लिखते हुए उन चित्रों का वर्णन इस प्रकार किया है:—

"अजन्ता के कलाकारों ने जो चित्र अंकित किये हैं वह विश्व के लिए एक साकार स्वप्न की भांति हैं जैसे चैतन्य पृथ्वी, अंकुरित पौध, पक्षी, मृग, हाथी, रक्तावरण मण्डप तथा ओसारे। नगर, द्वार तथा पटन तो हैं ही, इन सब

चित्र नं० ६ अजन्ता की भित्त-चित्रकारी।

के मध्य कोमलांगी स्त्री, पुरुष तथा बालकों के जीवन के कुछ चित्र भी हैं। इनमें से कुछ तो स्वतंत्र, गतिशील तथा ध्यानग्रस्त मुद्राओं में क्रीड़ा करते हुए दिखाए गए हैं और कुछ सम्पूर्ण सांसारिक जीवन के सुख तथा दुःख को व्यक्त करने के हेतु बने हैं, परन्तु उससे एक ऐसी आत्मा का दिग्दर्शन होता है जो जीवन की वास्तविकता की ओर इंगित करती है। अजन्ता की चित्रकारी कई शताब्दियों पूर्व हुई थी परन्तु आज भी रूप और रंग में उसका वास्तविक सौंदर्य उसी प्रकार प्रभाव शाली है। यद्यपि प्रत्यक्षरूप से वे वास्तविकता के सांचे में ढाली गई हैं, फिर भी यह यथार्थता साधारण मनोहरता के सिद्धांतों के उपाश्रित रक्खी गई है। रेखायें स्पष्ट तथा सुन्दर हैं। इनमें हमको अपनी कला के सहस्रों वर्षों के वंशानुगत क्रमिक विकास का परिचय मिलता है, जिसका उल्लेख रामायण में भी है।

अजन्ता के पश्चात हम ग्वालियर में बाग़ की गुफाओं की भित्त-चित्रकारी का वर्णन करते हैं जोकि तत्व तथा निष्पादन में समान रूप से ही ओजपूर्ण हैं। यह गुफ़ायें मध्यभारत में महो (Mhow) स्थान से ९० मील की दूरी पर स्थित हैं। वे आजकल बहुत शोचनीय दशा में हैं। इन गुफ़ाओं की अनेकों छतें गिर चुकी हैं और उनकी अरक्षित दीवारें जिन पर चित्र बने हुए हैं समय तथा ऋतु के प्रभाव से नष्ट होती जा रही हैं। यह वास्तव में आश्चर्यजनक बात है कि ४० फीट की लम्बाई में की गई चित्रकारी का भाग आज भी अविकृत रूप में शेष है तथा उसके कुछ भग्नावशेष वहाँ की अनेक गुफ़ाओं के भिन्न-भिन्न स्थानों में भी पाये जाते हैं। बाग़ की भित्त चित्रकारी कला तथा 'टेकनीक' में समकालीन अजन्ता की गुफ़ाओं के नमूनों से बहुत कुछ साम्य है। बाग़ गुफ़ा की चित्रकारी में कुछ असुविधायें थीं क्योंकि वहाँ की गुफ़ाये कोमल बलुवा पत्थर से खोद कर बनाई गई थीं और जो चूना उनको मिल सका वह बहुत ही निम्न कोटि का था। अजन्ता की भांति यह चित्रकला भी कई सौ वर्ष तक अज्ञात रही और प्रथम बार अजन्ता से १५० मील की दूरी पर सन १८२० ई० में मेजर डंगरफील्ड द्वारा खोज निकाली गई। बाग़ गुफ़ाओं के ओसारे की दीवारों पर जो चित्रों की लम्बी पंक्ति है उसमें एक रानी का चित्र है जो एक खिड़की की देहरी का सहारा लेकर रो रही है और एक दासी उसके पास खड़ी हुई उसे सांत्वना दे रही है। उसके समीप ही एक दीवार द्वारा पृथक एक बादशाह जैसा श्रेष्ठ पुरुष किसी राजदूत से बातें कर रहा है जिससे प्रत्यक्षतः कोई गम्भीर राजनैतिक बातचीत का निदर्शन मिलता है। उसके नीचे कुछ भिक्षुक लोग एक अप्सराओं के दल के साथ वाद्यों को बजाते हुए हवा में उड़ रहे हैं। तीसरे दृश्य में कुछ गायिकाओं की नृत्य मण्डली एक पुरुष नृतक के साथ है जो प्रत्यक्षतः भांड मालूम होता है और सम्भवतः ईरानी पोशाक पहने हुए तथा सर पर बनावटी बालों की टोपी लगाए है। इसके पश्चात पुरुषों का एक जलूस हाथी तथा घोड़ों की सवारी पर नृत्य मण्डली की ओर बढ़ता नज़र आता है। वस्त्र सुन्दर रंगों से रंगे हुए हैं जिस में हंस, मिथुन, कमल-पुष्प तथा रेखागणित के सदृश्य अनेक प्रकार के आकार भी अंकित हैं। घोड़े और हाथी इस वास्तविकता से बनाए गए हैं कि देखने वाले को यह भ्रम हो जाता है कि वह हाथियों की गति को देख सकता है तथा घोड़ों की सरपट चाल की

ध्वनि को सुन सकता है। उसमें हाथी पर एक दूसरे को पकड़े हुए कुछ गायिकायें भी हैं जिनका चित्रण अतिशय रूप से सादा होने पर भी सजीव है। अन्त में चैत्य-तोरण (नगर का बाहरी फाटक) है जिसमें होकर जलूस बाहर निकलता हुआ दिखलाया गया है। सब से अन्तिम दृश्य में एक संत आवाम (सार्वजनिक बाटिका) में उदास मुद्रा में बैठा हुआ है।

बाग गुफाओं की चित्र कला के पश्चात हमको सिंहलद्वीप में सिगिरिया की समकालीन चित्रकला मिलती है। [देखिये चित्र सं० ७] जो कि सन् ४७९ ई० और सन् ४९७ ई० के मध्यस्थ राजा कश्यप के समय में प्रतिपादित हुई। यह चित्र सिगिरिया या सिंहागिरि में बड़ी ऊँची पहाड़ियों पर ताक के अन्दर पाये जाते हैं और सम्भवतः राजा कश्यप की रानी का प्रदर्शन करते हैं। यह चित्र कला बाग और अजन्ता की चित्रकला के साधारण टेकनीक से मिलती जुलती है और पहनने के वस्त्र तथा सजावट में भी वहाँ की स्त्री प्रतिमाओं से इनका सामंजस्य है। इन चित्रों के कुछ चिन्ह सिंहल द्वीप के प्राचीन नगर अनुराधापुर तथा रावनवेली दगोवा में भी अभी तक पाए जाते हैं। इनके अतिरिक्त वह चित्र जिनमें राजसी शूरवीर हाथ जोड़ कर एक पंक्ति में बैठे दिखलाये गए हैं, मध्य प्रदेश में तमन-कड़वा स्थान में मिल सकते हैं। इन चित्रों के समीप जो शिला लेख मिले हैं उनके अस्पष्ट होने के कारण इन समूह के चित्रण-युग तथा काल का पता नहीं चल सका। इसी प्रकार के अन्य चित्र कोलम्बों में पोलानरवा, दंभोले और कन्हेरी विहार तथा कांडी के दोगलदुरवा में अब भी मिलते हैं। यह चित्रकारी जो पहली तथा ग्यारहवीं शताब्दी ई० में प्रतिपादित हुई अति कठोर रूढ़िगत शैली में की गई थी जिससे अन्त में वह निर्जीव बन गई। महायान बौद्ध सम्प्रदाय के आगमन से बौद्ध भिक्षुकों ने पाप के परिणाम तथा उससे बचने की रीतियों पर उपदेश देने का प्रयत्न किया। इसी कारण इन चित्रों के दृश्यों में यमलोक तथा वहाँ के विविध प्रकार के दण्डों की व्याख्या बहुत सावधानी से प्रदर्शित की गई है। ऐसे चित्र वेलूवन विहार में भी देखे जा सकते हैं जो कि पराक्रम बाहु के समय में सन् ११५३ ई० और सन् ११८३ ई० के मध्य में अंकित किए गए और वे कुछ-कुछ अजन्ता की भित्त कला से तो मेल खाते हैं परन्तु पूर्ण-रूपेण उनके भाव से नहीं।

मध्यकालीन युग कला के लिए अन्ध-युग ही कहा जा सकता है। उस समय की चित्रकला का विवरण केवल अनेक समकालीन साहित्यों में ही मिल सकता है। तारानाथ के ग्रन्थ से पता चलता है कि विभिन्न प्रकार के टेकनीक चित्र अंकन क्रिया के प्रयोग में लाए जाते थे। उस समय के चित्रकार थे उत्तरी भारत में जय, विजय तथा प्रजव। उस रचना से यह भी पता चलता है कि मगध देश में भी धीमन तथा वित्तपाल जैसे प्रसिद्ध कलाकार भी थे जिन्होंने स्वयं अपनी एक नई प्रणाली का सृजन किया जो एक शताब्दी से अधिक काल तक जीवित रही।

अभी हाल ही में पदुकोटा में सित्तन्नवासल कन्दरा के देवालयों में जैन चित्रकला का आविष्कार हुआ है। यह चित्र सातवीं शताब्दी ई० में पल्लव राजा महेन्द्र वर्मन के समय में बनाये गए थे। इनमें कमल-ताल, चंचल हाथी, बत्तख,
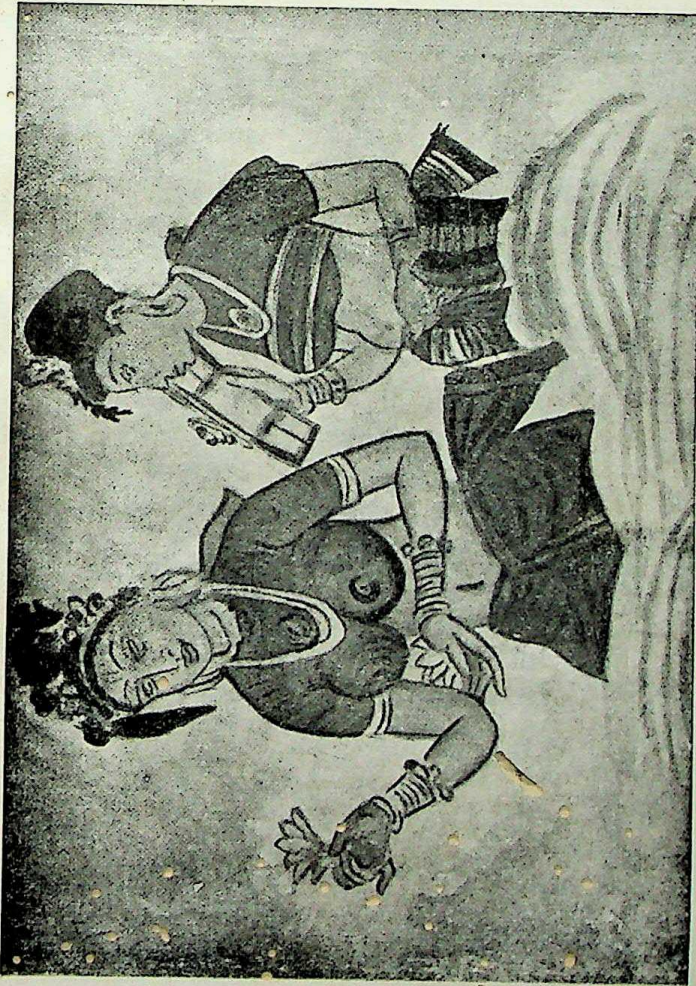
चित्र नं० ७ राजकुमारी तथा अनुचर, सिगिरिया चित्रकारी (छठवीं शताब्दी)। पृष्ठ १६
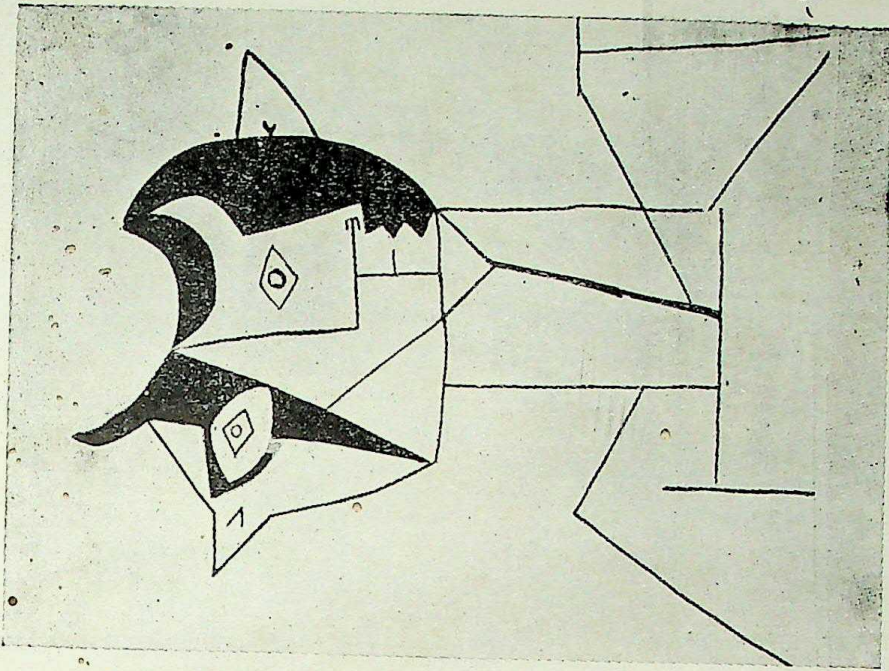
चित्र नं० १६ हिरन के बच्चे की ऊर्ध्वकाय मूर्ति, पिकासो। फ्रांस—तामसिक आसुरी-शिल्प। पृष्ठ ५६

मकर तथा महिष जो कन्दराओं की छतों में बनाए गए हैं उल्लेखनीय हैं। उसमें ऐसे भी विख्यात पुरुष हैं जो जटा मुकुट सहित चित्रित किए गए हैं और तपस्वी की भांति शिव जी से साम्य रखते हैं। काशीवरम के कैलाश मन्दिर में कुछ चित्र भग्नावस्था में दीवार पर अब भी स्थित हैं। नारथमल्लाई पर्वत श्रृंखला में एक चामुँड कला नृत्य का चित्र है जो कि पांडु राजाओं के समय में ९ वीं शताब्दी ई० में प्रतिपादित किया गया था।

ऐलोरा के गुफ़ा तथा देवालयों की भित्त चित्रकला के अवशेष इन्द्रसभा की गुफ़ा में कैलाश नाथ मन्दिर की छत पर अब भी विद्यमान हैं। इनसे इस बात का उचित प्रमाण मिलता है कि भित्त चित्रकारी किसी समय भारत के गुफ़ा देवालयों को बड़े विस्तार पूर्वक सुशोभित करती थी। टंजोर में बृहदीश्वर मन्दिर में चोल युग के कुछ चित्र विद्यमान हैं। इस मध्यकालीन युग की भित्त चित्रकारी में रेखा चित्र के टेकनीक तथा अन्य टेकनीक मुगल कालीन सूक्ष्म आकार के चित्रों से कुछ अधिक भिन्न नहीं हैं। इस कारण हम निस्संकोच रूप से कह सकते हैं कि वे उसके बाद आने वाले मुग़ल युग की विशाल कला से सम्पर्क स्थापित करने वाली श्रृङ्खलाएँ हैं। बादामी गुफ़ाओं की चित्रकारी छटवीं शताब्दी ई० में चालुक्य मंगलेश्वर के समय में हुई थी। चौदहवीं से सत्रहवीं शताब्दी ई० तक की। कुछ भित्त चित्रकारी विजय नगर में भी पाई जाती है।

पन्द्रहवीं शताब्दी के कुछ चित्र त्रिचूर के त्रिमुलाईपुरम मन्दिर में पाये गए हैं। कोचीन और ट्रावंकोर में भी पन्द्रहवीं से अठारहवीं शताब्दी तक की कुछ चित्रकारी का अनुक्रम मिलता है। वे साज सज्जा से परिपूर्ण होने पर भी ओज और जीवन से भरी हुई हैं। कुछ चित्र हमको जैन पाण्डुलिपियों में मिलते हैं जिनमें से जैन धर्म की काल्पनिक कथा सम्बन्धित शालीवद्रा दृष्टान्त चित्रों का उल्लेख किया जा सकता है। इस दो हज़ार वर्ष की लम्बी अवधि में हम पूर्व मुग़ल हिन्दू-बौद्ध चित्रकारी की जीवन शक्ति को उत्तेजित होते तथा चारों ओर उसी प्रकार विस्तरित होते देखते हैं जैसे मध्य एशिया में अफ़ग़ानिस्तान खोतान, मीरान, तरफ़ान में बनूयान गुफ़ाओं पर, होनोन और चीन के सहस्त्र बौद्ध देवालयों में तथा जापान में होरियूजी और कोंगोबूजी देवालयों में। यह अजन्ता की उस श्रेष्ठ कला के लक्षण तथा भाव की ओर हमारा ध्यान आकृष्ट करते हैं जिसने स्पष्ट रूप से बौद्ध धर्म की कला पर अपना प्रभाव डाला था। नेपाल और तिब्बत में भारतीय आदिम चित्र कला की परम्परा इस समय तक चली आ रही है। तिब्बत और नेपाली झंडों पर चित्रकारी ने अजन्ता की परम्परा के ओज को क्षीण नहीं होने दिया और विभिन्न प्रकार से जीवित रही। इस प्रकार प्राचीन भारत की कला अपने धर्म के समान ही सदा शक्ति शालिनी बनी रही।

तीन

मुग़ल एवं राजपूत कालीन चित्रकारी

यद्यपि मुग़ल कला-प्रधानतः मुस्लिम कला है और यह प्रभावशाली मुग़ल सम्राटों के समय में उनके दरबारों में ही फली और फूली, हमको यह भी नहीं भूलना चाहिये कि भारत की चित्रकला मुसलिम काल के पूर्व ही अपने चरम शिखर पर पहुँच चुकी थी। इतिहास साक्षी है कि हिन्दू-बौद्ध सभ्यता का ईरान पर ओक्सस नदी के पश्चिम तक अत्यधिक प्रभाव था। काबुल के समीप सातवीं शताब्दी के मध्य की बमियां गुफ़ा की चित्रकारी तथा खोतान, मीरान और तरफ़ान की चित्रकारी हिन्दू-बौद्ध उद्भव की ही है। अरब विजय के कारण ही हिन्दू कलाकारों को पूर्वीय ईरान छोड़ना पड़ा था। राजा धर्मश्री को भी बौद्ध धर्म त्यागना पड़ा था। यद्यपि कुछ समय तक बौद्ध धर्म के अनुयायी वहीं रहे परन्तु अंत में सन् १८६५ ई० में अल्टाई के मुसलमानों द्वारा वे वहाँ से हटा दिए गए। तुनह्वांग, होरियन तथा खोतान की चीनी-बौद्ध चित्रकारी ने भी ईरान की कला पर सन् १५८० ई० से सन् १६२० ई० तक शाह अब्बास के राज्यकाल में सम्पूर्ण नहीं तो पर्याप्त अंश में अपना प्रभाव डाला। इसी समय के लगभग मानव जाति की प्रतिमाओं की चित्रकारी भी मुसलमान धर्म के सिद्धान्तानुसार निषिद्ध होने पर भी प्रयोग में आती रही। इस प्रकार आठवीं शताब्दी में अरेबियन नाइट्स ख्याति के हारुन-उल-रशीद के राज भवन की दीवारों पर तथा फ़िलस्तीन देश के समारा नामक स्थान में कालिफ़-उल-मुतवक्कल बिल अल्लाह के निवास-गृहों में भी मानव प्रतिमा की चित्रकारी के उदाहरण पाए जाते हैं। इन चित्रों से यह प्रमाणित होता है कि मुस्लिम राजाओं ने चित्रकारी की सौंदर्य कला का महत्व समझा और उन्होंने अपने निवास-गृहों को मूर्ति-चित्रकारी तथा फूलों के चित्रों से सुसज्जित किया। इस प्रकार दसवीं शताब्दी के आरंभ से पुस्तकों के दृष्टान्त- चित्र तथा पाण्डुलिपि प्रदीपन ईरानी कला में प्रचलित हो गए। यह है मुस्लिम काल के पूर्व तथा पश्चात की ईरानी कला के इतिहास का संक्षिप्त वर्णन।
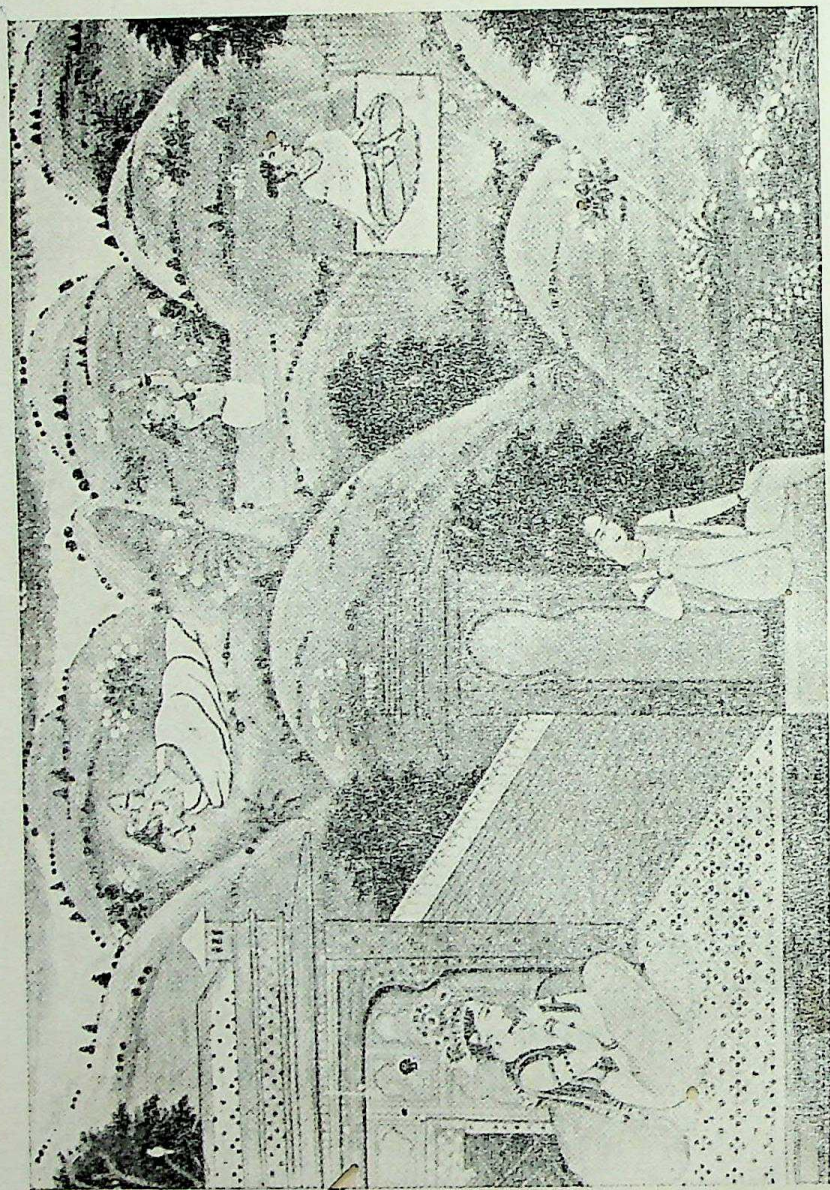
चित्र नं० ८ सौंदर्य उपचार के लिये पार्वती का कांया क्लेश ।

मुग़ल चित्रकारी प्रधानतः सूक्ष्म आकार के चित्रों तक ही सीमाबद्ध थी और भारत में मुग़ल दरबार में आने वाले कलाकारों के प्रथम दल ने एक मिश्रित हिन्दू-ईरानी श्रेणी के चित्रों का निर्माण किया। भारतीय तथा ईरानी कला का सुन्दर सम्मिश्रण दोनों शैलियों की परम्परा के भारतवर्ष तथा ईरान में जीवित रहने के कारण ही सम्भव हो सका। इसका एक कारण मुग़ल दरबार की उदार संरक्षण में भी निहित है। दोनों का संयोग अद्भुत बन पड़ा है जिसके कारण मुग़ल कला चोटी की कला हो गई। भारतीय तथा ईरानी कला का यह मधुमेल भारत को मुग़लों की देन है। मुग़ल शैली की चित्रकारी को सर्वप्रथम बुखारा के चित्रकारों से विशेषकर बिहज़ाद तथा आग़ा मीराक, सुलतान महमूद मिर्ज़ा अली जैसे उनके अनुयायियों से प्रेरणा मिली। समकालीन कलाकार मीर सैय्यद अली का भी उल्लेख उस समय के मुग़ल दरबार के अच्छे कलाकारों में किया जा सकता है। सम्राट बाबर ने अपने संस्मरणों में बिहज़ाद को सारे कलाकारों में श्रेष्ठ कहा है। बाबर को, जो तैमूर का वंशज उत्तराधिकारी था, सौंदर्य का तीव्र ज्ञान था यद्यपि भारत में अपने नये राज्य की अनिश्चित स्थिति के कारण इस सम्बन्ध में वह कुछ भी न कर सका। हुमायूँ का समय और भी दुष्कर तथा कला की उन्नति के लिए अनुपयुक्त था। अकबर के समय में ही मुग़ल राज्य में शान्ति की स्थापना हुई और ऐसी उपयुक्त अवस्था में ही कला उसके राज दरबार में पनपी। अकबर के शासन काल में ही मुग़ल साम्राज्य में शान्ति रही और इस प्रकार अनुकूल वातावरण पाकर ही इस कला का विकास हुआ। 'आईनेअकबरी' में दरबार के जिन ४० कलाकारों का उल्लेख है उनमें ईरान के मीर सैय्यद अली, ख्वाजा अब्दुल समद शीरीन तथा फ़रूंख और भारत के केशव दास, बेसावन सानुल्ला, मेहसिन, खेम करण, तारा, हरवंश रामलाल, मेकंद, मुश्कीं तथा यशवंत भी थे। इन हिन्दू तथा मुसलिम कलाकारों ने मिलकर अकबर के दरबार में कार्य किया और रामायण के प्रसिद्ध फ़ारसी अनुवाद को, जो इस समय जयपुर में है, तथा नल दमयन्ती, चंगेज़नामा (गिंजेज़नामा), ज़फ़रनामा, अकबरनामा, रज़्मनामा, कालिय दमन और यारे दानिश आदि पुस्तकों को दृष्टान्त चित्रों से सुसज्जित किया। 'आईनेअकबरी' से ज्ञात होता है कि सम्राट अकबर की एक चित्रशाला भी थी। वह कला को आश्रय देकर उत्साह प्रदान करता था जिसके फलस्वरूप कला इतने उच्च शिखर पर पहुँच गई। इसी प्रयोजन से उसने कला विभाग की स्थापना की जिससे बहुत से कलाकार एकत्रित होकर अपनी ख्याति के हेतु एक दूसरे से आगे बढ़ने की चेष्टा करें और अपनी श्रेष्ठ कला के उत्पादन द्वारा प्रतिष्ठित हो सकें।

भारत में बौद्ध कला के पश्चात् अति शीघ्र आने वाली पूर्व-मुग़ल काल की चित्रकारी में से कुछ भित्ति-चित्रकारी के अतिरिक्त अब कुछ भी शेष नहीं है। परन्तु कुछ चित्रालंकृत जैनी पाण्डुलिपियाँ अब भी पाई जाती हैं जिससे मुग़ल युग के आगमन तक उसकी अविच्छिन्नता प्रकट होती है। मुग़ल युग के आरंभ की राजपूत चित्रकारी (देखिये चित्र नं० ८) हिन्दुओं की स्वतंत्र तथा आदर्शभूत चित्रकारी मानी जा सकती है। राजपूत चित्रकारी सर्वदा सूक्ष्म रूप की ही नहीं होती थी। उस समय की बड़े आकार की भित्ति-चित्रकारी तथा कपड़ों पर की जाने

वाली चित्रकारी का अब भी अभाव नहीं है। डाक्टर कुमारस्वामी ने राजपूत चित्रकारी को उसकी उत्पत्ति के स्थानों को ध्यान में रख कर तीन श्रेणियों में विभाजित किया है—(१) राजस्थानी—जयपुर, बूँदी, मारवाड़, बुन्देलखण्ड तथा काठियावाड़ में, (२) पहाड़ी—जम्मू, काश्मीर, कांगड़ा तथा गढ़वाल में, (३) सिक्ख—जो पंजाब में सन् १८०३ ई० और सन् १८३९ ई० के मध्य में राजा रणजीत सिंह के समय में पुनर्जीवित हुई।

राजपूत कलाकारों की विशेष रुचि वैष्णव साहित्य के दृष्टान्त चित्र बनाने तथा सङ्गीत शास्त्र में स्पष्ट रूप से वर्णित राग रागनियों के चित्र बनाने में निहित थी। राजपूत कला के अन्तर्हित अर्थ समझने के लिए वैष्णव सभ्यता तथा अन्य ऐसी ही पुस्तकों जैसे जयदेव के 'गीत गोविन्द' और रामानुज, रामानन्द, विद्यापति, चण्डीदास, कबीर, तुलसीदास केशवदास तथा बिहारीलाल की कृतियों के भाव और रस का ज्ञान होना आवश्यक है। राजपूत तथा पहाड़ी चित्रकारों में मोलाराम का नाम विशेषरूप से उल्लेखनीय है। राजपूत शैली इस पहाड़ी कलाकार के साथ सन् १७६० ई० से सन् १८३३ ई० तक जीवित रही, जिसके पूर्वज १६वीं शताब्दी के मध्य में ही गढ़वाल चले गए थे। यह गढ़वाली चित्रकार भारतवर्ष का बौटीसेली (Botticelli of India) कहा जा सकता है। मुग़ल तथा राजपूत शैली के इन कलाकारों का उस समय तक वास्तविक सत्कार नहीं किया जा सकता जब तक कि उनकी उच्चतम कृतियों का मर्म समझने के लिए हम अपनी रुचि को परिष्कृत न कर लें—और यह केवल उनकी कला टेकनीक के ज्ञान द्वारा ही नहीं वरन उनके अन्तर्हित अर्थ, विचार तथा भाव में प्रवेश करके ही सम्भव है।

अकबर भारतीय ज्ञानशास्त्र का विद्यार्थी था और उसने दर्शनशास्त्र, धर्म तथा भारतीय कला का अध्ययन किया और उनके सौंदर्य के महात्म्य को कम किये बिना ही उसने उनमें अनुरूपता लाने का प्रयत्न किया। ऐसी अनुकूल परिस्थितियों में मुग़ल कला अपने नव-निर्मित स्थान में पल कर भारत में दृढ़ता से स्थापित हो गई।

मुग़ल चित्रण विशेषतः पाण्डुलिपियों के अनुकरण और आकृति-अंकन में सफल हुआ। इन चित्रों का मुख्य विषय प्रधानतः दरबारी जीवन, अन्तःपुर दृश्य, शिकार के घटना-स्थल तथा ऐसे प्रकरण थे जो सम्राट तथा उनके दरबारी महानुभावों की विशेष रुचि के होते थे। इन लघु जल-चित्रों (water colour painting) की कार्य कुशलता ऐसी थी कि हम उनकी अद्वितीय महीन नुकीली तूलिका के चातुर्य को अब केवल वृहण यन्त्र (खुर्दबीन) द्वारा ही समझ सकते हैं। अकबर के समय में इस भारतीय ईरानी पद्धति का मुग़ल शैली में परिवर्तन तथा विकास दृष्टिगोचर होता है जो कि भारत में मुग़ल वंश के अंत तक समृद्ध रहा।

जहांगीर सौंदर्य कला पर मुग्ध था और अपने व्यक्तिगत उत्साह तथा अवलम्बन द्वारा राजकीय कलाकारों के चातुर्य का विकास करने को उत्सुक रहता था। उसने हेरात के प्रसिद्ध चित्रकार आग़ा रज़ा के लड़के अबुल हसन को ईरान से अपने दरबार में आमंत्रित किया और बिहज़ाद, सुल्तान अहमद, आग़ा

मिराक़ और जाफ़र अली जैसे प्रसिद्ध ईरानी कलाकारों के चित्रों का विशाल संग्रह किया। यह चित्र अब भारत तथा विदेशों के अनेक संकलन में चारों ओर तितर बितर हो गए हैं। 'जहाँगीर-नामा' से पता चलता है कि अबुल हसन उसके दरबार का कृपा पात्र कलाकार था और उसने उसको "नदवी-उल-ज़मां" अर्थात 'सामयिक चमत्कार' की उपाधि से विभूषित किया था। अभाग्यवश अब उसके बहुत ही कम चित्र पाए जाते हैं। एक किंवदन्ती प्रचलित है कि जेम्स प्रथम ने जब सर टामस रो को ग्रेट ब्रिटेन का राजदूत बनाकर भेजा उस समय उसके साथ मुग़ल दरबार के लिए एक तैल-चित्र भेजा था। सम्राट को अपने कलाकारों पर इनता गर्व था कि उसने उनसे इस चित्र का प्रतिरूप इतना सुन्दर बनवाया कि मूल तथा प्रतिरूप दोनों को आस पास रखने पर सर टामस रो को दोनों चित्रों में से मूल चित्र को पहचानना असम्भव हो गया। मुग़ल दर्बार में राजकीय चित्रकार अति सम्पन्न थे, और सम्राट की ओर से जागीर तथा शुल्क उदारता पूर्वक पाते थे। परन्तु कभी कभी राजनैतिक संकट के समय उन्हें सम्राट के साथ कष्ट का भी सामना करना पड़ता था। ऐसे ही एक समय में सामलदास, जगन्नाथ तथा ताराचन्द को वैशाख मास की झुलसाने वाली ग्रीष्म ऋतु में ग्यारह दिन ऊँट की पीठ पर बैठकर ६०० मील की यात्रा करनी पड़ी थी। मिर्ज़ा मुहम्मद हकीम और शाह मुराद ने जहांगीर के चित्र बनाने में ही प्रसिद्धि प्राप्त कर ली थी। रंग और रेखा की सुकुमारतम मुग़ल कृतियां जहांगीर के राज्यकाल की ही हैं। उसे जानवरों और पक्षियों से बड़ा प्रेम था। उनके अनेक अद्भुत चित्र उस्ताद मंसूर ने उसकी प्रेरणा से प्रस्तुत किए थे। उसमें से एक मुख पृष्ठ पर दिया जा रहा है।

शाहजहाँ अर्थात ताजमहल के निर्माणकर्ता ने भी मुग़ल चित्रकारी को उत्साहित किया और संरक्षित भी। उसका नाम वस्तुकला की सुन्दरतम कृतियों से सम्बन्धित है। सौन्दर्य कला में शाहजहाँ की सुरुचि एक प्रासङ्गिक वार्ता से प्रमाणित की जा सकती है कि जब सर टामस रो ने उसको एक अंग्रेजी घड़ी उपहार में दी, तो सम्राट ने कहा कि वह अधिक प्रसन्न हुआ होता यदि उसके बदले में उसे एक नव-निर्मित तैल-चित्र दिया जाता। शाहजहाँ के समय में चित्रों में तरलता कुछ कुंठित अवश्य हो गई परन्तु प्रतिभा तथा सौन्दर्य में कोई कमी नहीं हुई। अमीरों तथा संतों के विशेष चित्र तथा दरबारों का चित्रण इसके समय में काफ़ी हुआ। उसकी शासन पद्धति में बीजापुर के राजा ने भी चित्रकारों के एक समूह को अपने दरबार में संरक्षता दी जिसने आगे चलकर अपनी अलग ही एक शैली बना ली। मुग़ल दरबार के अनेक हिन्दू तथा मुसलिम कुलीन पुरुषों ने ललित कला को अपने अपने प्रदेश में विकसित होने में सहायता दी और इस प्रकार उनकी संरक्षता तथा अवलम्बन में बहुत से चित्रकार अपनी जीविका के लिए उपार्जन करते रहे। शाहजहाँ का पुत्र दारा शिकोह चित्र कला का अति प्रेमी था। उसने उत्कृष्ट कृतियों का विशेष संग्रह किया था जो कि अब एक चित्र-पोथी (album) के रूप में इंडिया हाऊस लाईब्रेरी लंदन में रखी हुई है।

भारत ललित कला का ह्रास औरंगजेब के राज्यकाल से ही आरम्भ हो गया

था। यद्यपि हम यह निश्चित रूप से नहीं कह सकते कि वह केवल अपने धर्मपरायण भावनाओं के कारण ही अपने राज दरबार में कलाकारों को सहन नहीं कर सका। उसके समय के अनेक उपाख्यान तथा ऐतिहासिक घटनाओं के चित्र अब भी भारत तथा विदेश के संकलन में परर‌क्षित मिल सकते हैं। चित्रकारों के ऊपर से मुग़ल दरबार की संरक्षा हट जाने से उनको स्थानीय दरबारों की शरण लेनी पड़ी। मुग़ल क़लम की शाखाएँ भारत के अन्य स्थानीय दरबारों में लगीं और पनपीं (देखिये चित्र सं० ९)। मुग़ल कला का सबसे अंतिम आश्रय हैदराबाद तथा अवध के दरबार में था जहाँ कि कलाकार बिना किसी उत्साह के अपना जीवन निर्वाह भर कर पाते थे और अन्त में वे अपनी भूतपूर्व कीर्ति को बिलकुल खो बैठे। मुग़ल टेकनीक किसी सीमा तक पटना में पुनर्जीवित रही जहाँ कि जॉन कम्पनी के समय में अंग्रेज़ सौदागरों तथा पदाधिकारियों ने उसको उत्साहित किया। इसी कारण पटना शैली पर पश्चिमी कला का अत्याधिक प्रभाव पड़ा। कलाकारों ने जो मुख्य विषय चित्रित किए वह मानव चित्र ही थे। पिछले मुग़ल काल की कृतियों में बादशाहों और अमीरों की आपान क्रीड़ा के ही अधिक चित्रण मिलते हैं। सङ्गीत तथा सुन्दरियां उनके उद्दीपक विषय हैं। मुग़ल काल यथार्थता की पृष्ठभूमि पर मर्यादित वर्णांकन से सुकुमार और तरल कला निखरी। भारतीय चित्र कला १९ वीं शताब्दी के चित्र-अलंकृत पाण्डुलिलिपियों के अनेक उदाहरणों के साथ पूर्व कालीन विक्टोरिया युग तक स्वाभाविक रूप से उत्पादक रही। इस सम्बन्ध में बृटिश म्यूजियम में 'अख़लाक़े नासिरी' (१८४२ ई०) तथा राय राजेश्वर बली के संग्रह में बिहारीलाल की सतसई (१८८० ई०) विशेष रूप से उल्लेखनीय हैं।

मुग़ल अक्षर लेखन कला जो कि चित्रकारी के विषय से सम्बद्ध थी और क़लम कारी रंगने की टेकनीक जिसमें कि उतनी ही दक्षता की आवश्यकता होती थी जितनी अक्षर लेखन कलाकार के रेखा सम्बन्धित टेकनीक में, इन दोनों के विषय में कुछ न लिखने से मुग़ल कला का निरीक्षण अधूरा ही रह जायगा। फ़ारसी की मनोहर चित्र समान हस्तलिखित पाण्डुलिपियां सूक्ष्म आकार के चित्रों से सुसज्जित होती थीं और यह मुग़ल वंश के आगमन पर भारत में भारतीय कला के लिए महान प्रेरक के रूप में आई। सचित्र तालपत्र तथा भोज पत्र पर पाण्डु-लिपियाँ भारत में उस समय सर्वथा प्रचलित थीं। मुग़ल बादशाह अक्षर लेखन कला की सबसे श्रेष्ठ परम्परा अपने साथ लाए जिसने बाद की हिन्दू पाण्डुलिपियों को प्रेरणा दी और उनकी उन्नति की। इस प्रकार हमको भगवद्गीता, गीत गोविन्द तथा अन्य संस्कृत और हिन्दी साहित्य की सुसज्जित पाण्डुलिपियाँ मिलती हैं। साधारणतः ऐसी ४ प्रकार की हस्तलिपियाँ हैं। (१) कूफ़ी अर्थात कोण वाली, (२) नस्ख़ अर्थात मुड़े हुए अक्षर वाली, (३) नस्ता-लीख़ अर्थात जिस में अक्षर नस्ख़ से अधिक मुड़े होते हैं, और (४) शिकस्त—नस्तालीख़ का दूसरा नाम। शाहजहाँ के लड़के दारा शिकोह ने प्रसिद्ध अक्षर लेखन कलाकार अब्दुल रशीद दयालमीर से इस प्रकार की पाण्डुलिपियां लिखने की विधि सीख ली थी। बहादुरशाह जो मुग़ल वंश का अंतिम सम्राट था स्वयं एक महान अक्षर
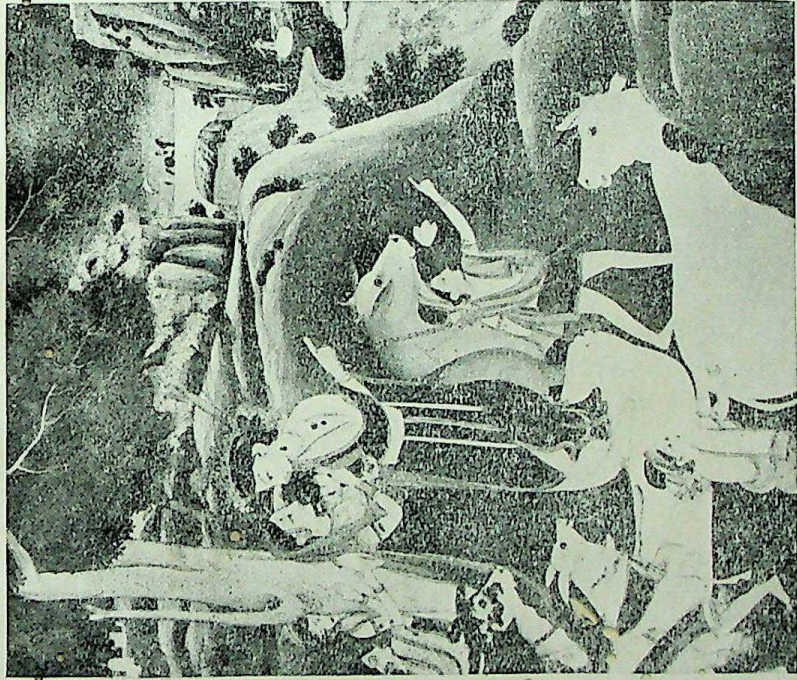
चित्र नं० ६ राधा-कृष्ण मुग़ल-राजपूत शैली
कांगडा कलम (१८वीं-शताब्दी)।
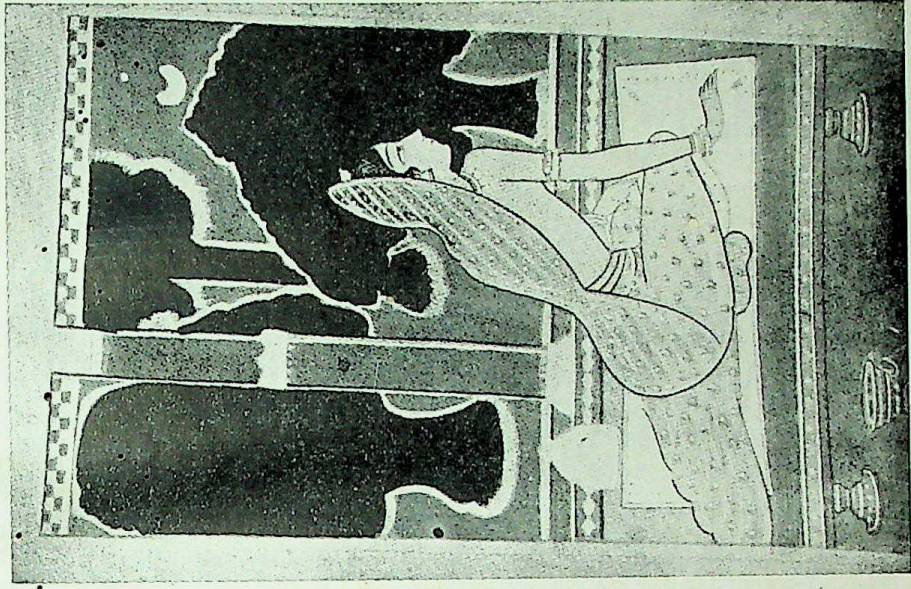
चित्र नं० १४ राधा विरह—नन्द लाल बोस
सात्विक, देव-शिल्प, भावनात्मिक ललित कला।

लेखन कला वेत्ता था और उसकी कारीगरी अब भी भारत तथा अन्य देशों के कला संकलन में पाई जाती है। परिणाम स्वरूप हम यह कह सकते हैं कि मुग़ल और राजपूत कला ने रेखाओं में लय का रहस्य और रंग तथा आकार में समता के संतुलन का आविष्कार किया यद्यपि इन्होंने परिपेक्षण तथा धूप छाया के चित्रण के विधान की ओर ध्यान नहीं दिया जिसको यूरोपीय शैली के विश्लेषणात्मक समालोचक सम्भवतः अर्थहीन तथा हास्यास्पद समझें।

चार

आधुनिक चित्रकला

विक्टोरिया युग में भारत में चित्रकला उपेक्षित ही रही। इसी कारण आधुनिक चित्रकला की भिन्न-भिन्न शैलियों के विविध टेकनीक तथा पद्धतियां जो कि भारत में सांस्कृतिक विचारधारा के संघर्ष के परिणाम स्वरूप उदय हो गईं थीं उनका विश्लेषण करना कठिन है। कुछ लोग विदेशी यूरोपीय शिक्षा द्वारा पश्चिमी आदर्शों का हमारे ऊपर प्रभाव पड़ते देख प्रसन्न थे परन्तु कुछ राष्ट्रीय विचार वालों ने इसका विरोध किया।

चित्र लेखन कला का काल क्रमानुसार क्रमबद्ध युगों द्वारा मुग़ल तथा राजपूत शैलियों तक पता चलता है परन्तु इसका अंत फिर भी सन् १७६० ई० में मुग़ल वंश के साथ-साथ नहीं हुआ। १८ वीं शताब्दी के अंत के पश्चात भी चित्र कला की भिन्न-भिन्न पद्धतियों के सामञ्जस विकास का पता मिलता है। विक्टोरिया युग के आगमन से भारतीय कला में एक महान परिवर्तन मान्य हो गया। भारत के कलाकारों ने यूरोप के तैल-चित्र का अनुकरण करना आरम्भ कर दिया। इसके परिणाम स्वरूप १८वीं शताब्दी में केवल वर्णशङ्कर शैली के सूक्ष्म आकार के चित्र का उत्पादन ही उनका उपार्जन था। इसी शताब्दी के आरम्भ में सूक्ष्म आकार की चित्रकारी की शैलियां पटना तथा अवध में महत्व दिखाती रहीं। इन चित्रों में बहुधा नवाब राजा तथा उच्च पदाधिकारी अपने दरबारी तथा अनुचरों सहित चित्रित किए जाते थे। इन चित्रों में प्रकाश तथा छाया द्वारा वास्तविक समानता लाने का प्रयत्न प्रकट होता है। परन्तु वे इसको यूरोपीय सूक्ष्म चित्रकारी के स्तर तक कभी भी नहीं ले जा सके। जान कम्पनी के विख्यात ऐङ्गलो-भारतीय चित्रकारों के अनेक चित्ररञ्जक चित्र जो कि इस युग का स्पष्ट विवरण देते हैं अभी तक पाए जाते हैं।

यूरोपीय प्रभाव तथा शिक्षा ही वास्तव में भारत की कला तथा सामाजिक निर्णय और आदर्श में परिवर्तन के लिए उत्तरदायी हैं। भारत में पाश्चात्य देशों

से आने वाले वास्तविकता पूर्ण सुन्दर तड़क-भड़क वाले तैल-चित्रों पर मुग्ध हो गये। इसका अनिवार्य परिणाम यह हुआ कि १९ वीं शताब्दी के आरंभ तक चित्र कला की जो परम्परा प्राप्त शैली थी उसकी उपेक्षा हुई और अंत में वह अदृश्य हो गई। केवल कुछ समय तक जयपुर, देहली, आगरा तथा लखनऊ में मुग़ल शैली की परम्परा २० वीं शताब्दी के आरंभ तक निरन्तर अधोगति तथा असंस्कृत अवस्था में रही। पंजाब में रणजीत सिंह के शासन के पश्चात चित्रकला की सिक्ख शैली प्रायः लुप्त हो गई। गढ़वाल के पर्वतीय रियासतों में पहाड़ी तथा राजपूत शैली कुछ समय तक पनपी। उत्तरी भारत में कुछ खानदानी कलाकार तञ्जौर की ओर चले गए और तञ्जौर के अन्तिम राज्यकाल तक वहीं रहे। उन्होंने वहाँ की स्थानीय शैली को भी अपनाया और अन्त तक बड़ी दयनीय स्थिति में वहाँ रहे। राजकृष्ण राजा वौदियार ने मैसूर के स्थानीय कलाकारों को भी काफ़ी प्रोत्साहन दिया जो कि सन् १८६८ ई० में उसकी मृत्यु पर्यन्त फलती फूलती रही। इसी समय के लगभग ट्रावंकोर के राजा रवि वर्मा ने लौकिक रुचि के अनुसार पौराणिक कथा-विषयों के अनुक्रम को तैल-चित्र में अंकित कर तथा उन्हें छपवा कर प्रसिद्धि प्राप्त की। उसके चित्र भारतवर्ष में हर स्थान पर हाथों हाथ बिक गए क्योंकि वे लौकिक धार्मिक चेतना की अभ्यर्थना करते थे। उनके द्वारा चित्रित मुखाकृतियाँ और मूल आकृतियाँ उच्च कोटि की कला-कृतियाँ हैं। इस थोड़े समय में राजा रवि वर्मा का व्यक्तित्व सब से अधिक महत्वपूर्ण रहा है।

सर जाज बर्डवुड और सर जार्ज वॉट जैसे यूरोपीय कला प्रेमियों तथा उस समय के अन्य अनेक अधिकारियों ने भारतीय चित्रकारों की कला को औद्योगिक कला के क्षेत्र में निश्चित रूप से मान्यता दी, परन्तु उस क्षेत्र में नहीं जिसको वे ललित कला का नाम देते थे। सर लार्ज बर्डवुड ने प्राचीन बौद्ध प्रतिमाओं की बड़ी तीखी समालोचना की और यहाँ तक कहा कि "एक उबाला हुआ चर्बी से बना पकवान भी एक आत्मा की उत्कट निर्मलता तथा स्थिरता के प्रतीक का काम दे सकता है।" उस समय के यूरोपीय समालोचकों ने जिनको भारतीय कला से थोड़ी भी सहानुभूति थी उसकी उन्नति का कारण सिकन्दर के आक्रमण के पश्चात यूनानी (Hellenic) प्रभाव बताया। उनका विचार था कि यूनानी प्रभाव के कारण ही भारत में कलाकारों को अतः प्रेरणा मिली और इस देश में सिकन्दर के आने से पहले भारत में किसी स्वतन्त्र कला परम्परा के अस्तित्व में उनका विश्वास नहीं था।

हैविल, कुमार स्वामी तथा अविनेन्द्र नाथ टेगौर के नवीन खोज पूर्ण अन्वेषणों तथा अध्ययन के फल स्वरूप यूरोपीय समालोचक भारत में प्रभावशाली ललित कला के अस्तित्व को प्रत्यक्ष मानने लगे। सन् १९१० ई० में इंगलैंड के १३ विख्यात कलाकारों ने रॉयल सोसाइटी ऑफ़ आर्ट स के समक्ष सर जॉर्ज बर्डवुड की उच्च कोटि की बौद्ध मूर्ति की आलोचना पर जो उत्तर दिया उसमें प्रथम बार हम यूरोपीय कला समालोचकों के प्रतिनिधियों में मनोवैज्ञानिक प्रति-क्रिया तथा विचार में परिवर्तन इन शब्दों में पाते हैं:—

"हम निम्न हस्ताक्षर कर्ता कलाकार, समालोचक तथा कला विद्यार्थी

भारत की सर्वोत्तम कला में मानव जाति की धार्मिक भावना की तथा दिव्य विषय पर अति गम्भीर विचारों की एक वैभव युक्त तथा पर्याप्त अभिव्यंजना पाते हैं। बौद्ध आकृति की पवित्र प्रतिमा को हम विश्व की एक अति महान कलात्मक प्रेरणा मानते हैं।"

भारत की कला का राष्ट्रीय पुनरूत्थान देश की राष्ट्रीय पुनर्जागृति से समकालीन हो गया और कलकत्ता स्कूल ऑफ़ आर्टस के अध्यक्ष श्री हैविल ने डाक्टर आविनेन्द्र नाथ टेगौर की सहायता से भारतीय चित्रकला की एक राष्ट्रीय शैली की स्थापना की जिसका उद्देश्य भारतीय कलात्मक परम्परा के "टूटे धागों को चुन कर उठा लेने का था।" उपक्रम में ही इस साहस पूर्ण कार्य ने भारतीय जनता के एक वर्ग के हृदय में संशय उत्पन्न कर दिया क्योंकि उनके विचार में केन्सिगटन आर्ट स्कूल के शिक्षितविद्यार्थियों का आदर्श रूप होना और विभिन्न कला विद्यालयों में यूरोपीय शिक्षकों द्वारा सिखलाई हुई पाश्चात्य कला टेकनीक का भारत के कला क्षेत्र में चमत्कार कर दिखाना भी आवश्यक था। जनता के इस वर्ग को यह भी शंका थी कि यदि कला के इस राष्ट्रीय शैली को पनपने दिया गया तो ललित कला की उन्नति में बाधा पड़ेगी। इस नई चेष्टा के विरुद्ध जनता तथा अखबारों द्वारा बड़ा आन्दोलन किया गया। ऐसी प्रतिकूल स्थिति में डाक्टर अविनेन्द्र नाथ टेगौर ने श्री हैविल की सहायता से कलकत्ता गवर्नमेन्ट स्कूल ऑफ़ आर्ट्स के कुछ विद्यार्थियों को एकत्रित किया जिनमें उल्लेखनीय थे स्वर्गीय सुरेन्दर नाथ गंगोली, नन्दलाल बोस, असीत कुमार हाल्दार, हकीम मुहम्मद खाँ, वेंकाटप्पा, एस० एन० गुप्ता, शैलेन्द्र नाथ डे तथा समी-उज-जमां। भारतीय चित्रकला की नयी पुनरूत्थान शैली को इंडियन सोसायटी ऑफ़ ओरिऐंन्टल आर्ट्स से जिस की स्थापना डाक्टर अविनेन्द्र नाथ टेगौर के बड़े भाई स्वर्गीय श्री गगनेन्द्र नाथ टेगौर ने की थी अति प्रोत्साहन मिला। इस सभा ने विद्यालय के चित्रों को प्रति वर्ष प्रदर्शनियों द्वारा लोक प्रिय बनाया। यह सभा सन् १९०७ ई० में लार्ड किचनर के प्रथम सभापतित्व में स्थापित हुई जिसके सभासद अनेक सुविख्यात यूरोपीय तथा भारतीय थे जैसे सर जान वुडरफ़, ऑनरेबिल मिस्टर जस्टिस राम पानी, ऑनरेबिल मिस्टर जस्टिस हौम वुड, ए० एन० टेगौर इत्यादि जिन्होंने आन्दोलन की उन्नति में सहयोग दिया और सफलता प्राप्त की। इसी प्रकार एक और संस्था 'इंडिया सोसायटी' के नाम से लंदन में स्थापित हुई जो अब भी मारकीस ऑफ़ ज़टलेंड के प्रधानत्व में सुन्दर कार्य कर रही है। डाक्टर टेगौर के शिष्यों के चित्रों की अनेकों प्रदर्शनियाँ भारत में तथा विदेशों में की गईं और भारतीय कला पर अनेक लेख डाक्टर कुमार स्वामी, डाक्टर कजिन्स, परसी ब्राऊन हैविल, डाक्टर स्टेला क्रेमरिस, ओ० सी० गंगोली तथा अन्य महानुभावों द्वारा प्रकाशित हुए। गवर्नमेंट स्कूल ऑफ़ आर्टस कलकत्ता के लिए अपने शिष्यों को भारतीय परम्परा प्राप्त टेकनीक में शिक्षा देने के अभिप्राय से तथा उनको प्राचीन कला विशेषज्ञों का मर्म समझने में सहायता करने के विचार से डाक्टर टेगौर पटने से एक खानदानी चित्रकार लाला ईश्वरी प्रसाद को ले आए थे। इसी प्रयोजन से उन्होंने अपने शिष्यों को अजन्ता, बाग़, जोगीमारा गुफ़ा तथा अनेक अन्य

कलात्मक अभिरुचि के स्थानों में भेजा। अजन्ता के रंगे भित्त चित्रों की प्रतिलिपि एस० एन० गुप्ता, वेंकाटप्पा, नन्द लाल बोस तथा असीत कुमार हाल्दार ने सन् १६१० और १६११ की शरद ऋतु में तैयार कीं। उन्होंने लेडी हैरिंगटन और उनके साथियों के साथ काम किया। १६१७ में असीत कुमार हाल्दार ने बाग़ की गुफ़ाओं की चित्रकारी का निरीक्षण किया और उसके बाद १६२१ में सर्व श्री नन्दलाल बोस, असीत कुमार हाल्दार और सुरेन्द्रनाथ कर ने इनकी प्रतिलिपि उतारी। जोगीमारा की भित्त चित्रकारी की प्रतिलिपि असीत कुमार हाल्दार तथा समरेन्द्र नाथ गुप्ता ने सन् १६१४ में बनाई। इस प्रकार उनके अनेक शिष्यों ने ललित कला की अभिस्वीकृति तथा कला का सांस्कृतिक पुनर्जीवन प्राप्त किया। डा० टेगौर ने स्वयं भिन्न प्रकार की चित्रकला के स्थानीय देशीय टेकनीक के प्रयोग द्वारा अनुभव प्राप्त किया और जैपुर के खानदानी कलाकारों को परम्परा प्राप्त भित्त चित्रकारी की रीतियों का प्रदर्शन कराने के लिए बुलाया। कच्छ और देवजनी जैसी भित्त चित्रकारी पर किए हुए उनके प्रयोग कलकत्ता स्कूल आफ़ आर्ट्स में अब भी प्राप्त हैं। उनके शिष्यों ने चित्रकारी में भिन्न-भिन्न विधियों से अनेक प्रयोग किए। नन्द लाल बोस तथा असीत कुमार हाल्दार ने लकड़ी, रेशम तथा अन्य माध्यमों पर भी ऐसे अनेक प्रयोग किए।

लार्ड ज़ेटलेंड ने जिन्होंने बंगाल के गवर्नर के पद को सुशोभित करते हुए इस आन्दोलन की प्रगति में स्वयं सहायता की थी अपनी पुस्तक "द हार्ट ऑफ़ आर्यवर्त" में कहा है :—

"डाक्टर अविनेन्द्र नाथ टेगौर तथा उनके भ्राता गजनेन्द्र नाथ टेगौर कलकत्ते में द्वारकानाथ टेगौर लेन में अपने कुटुम्ब के निवास स्थान पर कलाकारों के एक समूह के साथ एकत्रित होते थे जिनमें कुछ के नाम हैं नन्दलाल बोस, ओ० सी० गंगोली, क्षितेन्द्र नाथ मजूमदार, असीत कुमार हाल्दार, सुरेन्द्र नाथ कर और मुकुन्द चन्द्र डे, जिन्होंने भारतीय चित्रकारी की आधुनिक शैली की व्याख्या करने वालों में प्रसिद्ध प्राप्त की। वह चित्रशाला जहां यह दिलचस्प मण्डली बैठती थी स्वदेशोत्पन्न कला को प्रोत्साहन देने के हेतु विद्यालय न होकर एक ऐसा स्थान था जहां कलात्मक रुचि का विकास, सौंदर्य ज्ञान की उन्नति तथा ऐसी सुन्दर वस्तुओं से प्रेम उत्पन्न होता था जो भारत के विचारों को उसके विकास में अभिव्यक्त करती हैं। डाक्टर टेगौर ने अपने शिष्यों की कल्पना शक्ति को ऐसी उदार उत्पादक प्रेरणा से उत्तेजित कर दिया कि वे अपने आपको संकीर्ण प्रान्तीयता में सीमित रखने की अथवा कला-क्षेत्र की अन्तर-राष्ट्रीयता में आश्रय लेने की कभी भी चिंता नहीं करते थे।' यही कारण था कि उनके शिष्यों की विशेष व्यक्तिगत शैली प्राचीन कलाकारों की भद्दी नकल नहीं है। कुमार स्वामी रचित "भारतीय कला के सङ्कलित उदाहरण (Selected Examples of Indian Art) तथा हैविल रचित "भारतीय मूर्तियां तथा चित्र" (Indian sculptures and painting) पुस्तकों में डाक्टर टेगौर तथा उनके शिष्यों की चित्रकारी के उदाहरण देखे जा सकते हैं जिन्होंने भारत के कलाकारों की आनेवाली पीढ़ी के लिए भारतीय कला की चेष्टा को प्रेरणा का एक धारा प्रवाह स्रोत बना दिया। वास्तव में यह

शुभ लक्षण है कि हैविल, टेगौर तथा कुमारस्वामी द्वारा प्रतिभूदित राष्ट्रीय चित्रकला शैली अब तीन पीढ़ियों से प्रसिद्ध कलाकारों के एक परिवार स्वरूप हो गई है और उनके शिष्य भारत के अनेक प्रान्तीय राजकीय कला विद्यालयों में अध्यक्ष का कार्य कर रहे हैं।

भारतीय कला को पुनर्जीवित करने के अभिप्राय से बम्बई के कलाकारों द्वारा भी एक प्रयत्न हो रहा है जिसका उद्देश्य पूर्वीय चित्रकारी के सिद्धान्तों तथा पश्चिमी कला के सिद्धान्तों का सम्मिश्रण करना है। ऐसे संकलन का परिणाम अवश्य कुछ अच्छा हो सकता है यदि कलाकारों ने पहले अपने ही देश की कला में पूर्ण श्रेष्ठता प्राप्त कर ली हो। नहीं तो ऐसे मिश्रण से वर्ण संकर उत्पत्ति की ही सम्भावना है और इसके अतिरिक्त कलाकार को अपनी सांस्कृतिक अभिव्यंजना के लिए सदा दूसरे देशों की ही ओर ताकना पड़ेगा। इस सम्बंध में बम्बई के धुरन्धर तथा लाल काका जैसे कलाकारों द्वारा सर जे० जे० स्कूल आफ आर्टस के प्रधानाचार्य सोलोमन की मार्ग दर्शकता में कुछ प्रयोग किए गए हैं। बम्बई के कलाकारों ने हाल ही में आधुनिक यूरोपीय सुररियेलिस्ट तथा डाडा शैली को अपनाया है और गर्व सहित इस प्रवृत्ति का अनुकरण कर रहे हैं।

आधुनिक कला गति पर विचार करते हुए हम यूरोप के वर्तमान यन्त्र-युग के प्रभाव की भी उपेक्षा नहीं कर सकते। भविष्यदर्शी, विचारक तथा कलाकारों का एक समुदाय इससे ऊबकर इसकी उलझनों से निकल भागना चाहता है। उन्होंने यह महसूस कर लिया है कि कला में जीवन चित्रण तथा उसकी विचित्रता का प्रदर्शन करने ही का प्रयत्न नहीं करना है वलिक वास्तविकता कुछ और भी है। इसी कारण कला में उन्होंने प्रभाववादी भविष्यवादी, घनवादी तथा अतियथार्थवादी की चेष्टाओं में अनुभव करना आरंभ कर दिया और रोमांचक कला (Romantic art) से उन्हें कोई प्रेम नहीं रहा। भारत में इन शैलियों का प्रभाव पड़ा और स्वर्गीय श्री गगनेन्द्र नाथ टेगौर ने इस सम्बन्ध में आश्चर्यजनक प्रयोग किए। स्वर्गीय कवि डा० रविन्द्रनाथ टेगौर ने भी ७० वर्ष की आयु में सुररियालिस्ट (Sur-realist) शैली में चित्रकारी की। भारतीय कला तथा उसके आदर्शानुकूल किसी मानव को उस समय तक प्रसन्नता प्राप्त नहीं हो सकती जब तक उसके जीवन में किसी प्रकार का रोमांच न हो। रोमांच क्या है ? चित्रकला में रस उसी समय आरम्भ हो जाता है जब कि चित्रपट पर रंग की एक बूँद डाल दी जाये। वस्तुतः भाव वाचक असीमता का हमारे लिए कोई अर्थ नहीं है। हम हर वस्तु का इन्द्रियों द्वारा ज्ञान प्राप्त करते हैं और यह अनात्मावादिक ज्ञानेन्द्रियां हमारे मन में रोमांच अर्थात् रस उत्पन्न करती हैं। इस कारण चित्र पट पर रंग की एक बूँद रिक्त स्थान को कुछ अर्थ दे देती है और मनोवैज्ञानिक रोमांच उसी का स्वाभाविक परिणाम होगा।

कला-प्रेरणा किसी विशेष युग या सिद्धान्त से सीमित नहीं है। कला प्रगतिशील तथा उत्पादक अन्तः प्रेरणा है और मानव जाति की उत्पत्ति के समय से अभिव्यक्ति खोजने वाली आदिम प्रेरणाओं में से एक है। यह उन्नति करने का प्रयत्न अनन्त है और उसे उन्नति करना ही चाहिए। सम्भव है कि जिसे हम इस

समय "आधुनिक" के नाम से पुकारते हैं आने वाले कलाकारों को प्रेरणा न दे सके। परन्तु फिर भी कला की गतिविधि को स्थगित नहीं किया जा सकता और न उसकी कार्य सिद्धि को सीमित ही कर सकते हैं। प्रश्न यह है कि कलाकर समालोचक की आज्ञा ग्रहण करेगा अथवा अपनी मन की प्रेरणा ?

———

पांच

भारतीय कला तथा धर्म में प्रतीकता

भारतीय कला तथा धर्म में संकेतों का प्रयोग समझने के लिए अपने पूर्वजों द्वारा विस्तृत विचारधारा का पता लगाना चाहिए और पूर्व निर्णीत मत बिना अथवा पक्षपात रहित उसको समझने का प्रयत्न करना चाहिए। कुछ संकेतों की व्याख्या करने के पूर्व हमको यह पता लगा लेना है कि हमारे भविष्य वक्ताओं ने रूप तथा भाव में ज्ञान तथा रहस्य का किस प्रकार सन्तुलन किया है। भारत में वैदिक स्तोत्रों में हमारी सत्ता द्वारा उत्पन्न आश्चर्य तथा भय के विरुद्ध अनुभवहीन बुद्धि की आरंभिक प्रतिक्रिया का समावेश है। वे विश्व की परस्पर विरोधी स्थितियों–भिन्नता तथा समानता–के मानसिक सङ्कलन द्वारा उत्पन्न हुए थे। यह स्तोत्र किसी विशेष भविष्य वक्ता अथवा पुरोहित द्वारा एक निश्चित सम्प्रदाय के लिए दिये गए निर्देश नहीं हैं। वे अपनी भावुक अभ्यर्थना में जो शान्ति चिन्तन तथा आत्म दर्शन की गम्भीरता द्वारा उत्पन्न हुआ कोई दृढ़ अनुशासन निर्धारित नहीं करते। उन स्तोत्रों के निर्माता यह समझते थे कि वास्तविकता एक है यद्यपि विद्वान लोग उसे अनेक नामों से पुकारते हैं।

भौतिक विज्ञान के अन्वेषण से बहुत पहले भारत के मुनिगण प्रकृति के निकट थे और दिखावटी प्राकृतिक विश्व के द्वारा प्रकट हुए असाधारण दृश्यों की गहन परिपाटी का उन्होंने बारीकी से निरीक्षण किया। छांदोग्य उपनिषद तथा मनु संहिता दोनों में सकल दृश्य जगत में पाई जाने वाली चरम यथार्थता का वर्णन इस प्रकार किया गया है—"आरंभ में यह विश्व अदृश्य था और तमस (नदी) में डूबा हुआ था—अगम्य, विशेष चिन्हों से विहीन, तर्क शास्त्र से अलभ्य तथा परिभाषा रहित—मानों गहन निद्रा में हो।" इस चरम वास्तविकता को अधिक स्पष्ट करने के लिए छान्दोग्य उपनिषद में मुनियों ने एक अंडे के चिन्ह का आविष्कार किया कि जो एक वर्ष तक बेकार पड़े रहने के पश्चात तोड़ कर खोला गया तो छिलकों के दोनों टुकड़ों में से एक चांदी का था और दूसरा सोने का। चांदी का

छिलका पृथ्वी तथा सोने का आकाश है। बाहर की भिल्ली पहाड़ है और अन्दर की बादल और कोहरा। उसकी नसें नदी हैं। पूर्वकालीन भविष्य वक्ताओं ने प्राकृतिक दृष्टि विषय के विवरण देने के प्रयत्न में स्वयं अपनी असमर्थता का अनुभव किया और इसलिए उन्होंने मंत्र तथा ब्राह्मण ग्रंथ, स्तोत्र तथा क्रिया पद्धति, देवी देवता, अग्नि, वरुण, इन्द्र तथा विष्णु (परिरक्षक) इत्यादि का अन्वेण किया। उसी समय वे आकाश (अवकाश) तथा सृष्टि (पदार्थ) की एकता से परिचित हुए। छांदोग्य उपनिषद में लिखा है कि मुनि ने अपने पुत्र को बरगद का एक फल लाकर उसे तोड़ने की आज्ञा दी। फिर उसने पुत्र से पूछा "तुम इसमें क्या देखते हो" पुत्र ने उत्तर दिया "श्रीमान, बीज के समान अत्यन्त छोटी कुछ वस्तुओं का एक समूह," मुनि ने कहा "उसमें से एक को तोड़ो तथा उसे देखो।" पुत्र ने उत्तर दिया "मैं इसमें कुछ नहीं देख पाता।" तब विद्वान पिता ने कहा—"पुत्र! वह सूक्ष्म निष्कर्ष (बीज) जिसको तुम देख नहीं पा रहे हो उसी में इस बरगद का अस्तित्व है। उसी में उसका पूर्ण अस्तित्व है और उसी में है वह स्वयं।"

इसी प्रकार उत्तर-वैदिक युग में अनेक हिन्दू विद्वानों ने सम्पूर्ण सृष्टि में समाविष्ट एकता का वर्णन किया है। जिस प्रकार घड़े के अन्दर तथा बाहर एक ही सर्वव्यापी वायु है उसी प्रकार अनन्त सर्वव्यापी अकेली यथार्थता सब वस्तुओं में विद्यमान है। भौतिक विज्ञान की आधुनिक उन्नति ने भी इस सिद्धान्त को सिद्ध कर दिया है कि एक ही तत्व स्थूल प्रकृति के विभिन्न रूपों में अन्तर्हित है। ब्रह्मांड को अणुओं परिमाणुओं में टुकड़े २ कर देने का आधुनिक वैज्ञानिक आविष्कार उससे कहीं अधिक उन्नति कर चुका है और उसकी परिपूर्ण विधि अर्थात शक्ति को पदार्थ के रूप में भौतिक बनाने की क्रिया भी ब्रह्मांड-किरणों के अद्भुत पदार्थ में देखी गई है। सुरङ्गम सूत्र के अनुसार महात्मा बुद्ध ने कहा है—"दृश्यमान विषय की सारी कल्पनाएं मन के कार्यकलाप के अतिरिक्त और कुछ नहीं हैं।" मन प्रत्येक पदार्थ को हमारे इन्द्रिय ज्ञान (रस) द्वारा बताता है। वैदिक तथा पौराणिक दोनों युगों में हमारे ज्ञानी पुरुषों ने इन्द्रिय ज्ञान (रस भाव) की इस अनिवार्य शक्ति को स्वीकार किया है। अनन्तता तथा अस्तित्व को उहोंने अनेक प्रकार के सांकेतिक प्रतिरूपों तथा देवी देवताओं इत्यादि की मूर्तियों के आविष्कार द्वारा स्पष्ट किया है। उन्होंने उसका सबसे पहले प्रयोग अपने स्तोत्र की उपमाओं के रूप में किया जैसे किसी पदार्थ को उसके समरूप वस्तुओं द्वारा प्रकट करना या प्रतिरूप बनाना। बाद में उन्होंने विविध प्रकार के सांकेतिक चिन्ह धारण कर लिए। ज्ञानी पुरुषों को जन समूह को शिक्षा प्रदान करने के लिए रामायण तथा महाभारत जैसे वीर चरित्र वर्णन महाकाव्यों की रचनाएं करनी पड़ीं। भगवद्गीता तथा वेदों के अनुसार ईश्वरात्मा ब्रह्म कभी उत्पन्न नहीं हुआ। उसका अस्तित्व कभी मिट नहीं सकेगा। ऐसा कोई समय नहीं हुआ जब उसका अस्तित्व न रहा हो। उसका उद्गम और अन्त स्वप्न है।" ऐसी भाव वाचक यथार्थता को चिन्ह युक्त करने के लिए उनको एक रहस्यमय प्रतिमा की कल्पना करनी पड़ी। भगवद्गीता में भगवान श्रीकृष्ण अर्जुन से कहते हैं—"हे अर्जुन मेरा प्रदर्शन विविध प्रकार की अनेक आकृतियों तथा प्रतिमाओं में सैकड़ों और सहस्रों रूपों

में देखो। मेरे इस शरीर में इस समय सारे विश्व को स्थिर तथा गतिशील जीवों के सहित देखो और जो कुछ भी देखना चाहते हो देखो।" इन प्रभावशाली रहस्यमय शब्दों में हमारे विद्वानों ने इस असीमता का चिन्हवाद की भाषा में वर्णन किया है। इसी में स्थान पाया है सर्व शक्तिमान ईश्वर के तेज तथा जादू ने, अनगिनत आँखों से देखते हुए, अगिनत मुखों से निर्देश देते हुए, अनगिनत रहस्यमय आकृतियों को आलिङ्गन करते हुए, अनगिनत आभूषण पहने हुए, अनगिनत दिव्य शस्त्र पहने हुए, सूर्य, चन्द्र तथा अन्य नक्षत्रों के हार से सुशोभित जिसमें दिव्य गन्ध तथा चकाचौंध कर देने वाली चमक है, नितान्त विस्तृत, असीमित तथा सुन्दर। इस अनादि अनन्त की महिमा को ऐसे ही महान संकेत द्वारा समझाया गया है जिसको मानव अपने इन्द्रिय ज्ञान द्वारा कठिनता से कल्पना में ला सका। इस प्रकार मुनियों ने अनन्त आत्मा को चिन्हयुक्त किया और उसका तीन मुख्य भावों में विश्लेषण किया—ब्रह्म—सृजक, विष्णु—रक्षक, तथा शिव—नाशक। क्रमशः उन्हें विषय के कार्य कलाप को रूप देने के लिए अनेक प्रकार के दृश्यों का सृजन करने के लिए तरह तरह के सांकेतिक आकारों का अविष्कार करना पड़ा। अर्थात् विश्व के प्रत्यक्ष प्रदर्शन ने ऐसे लाक्षणिक संकेतों द्वारा स्वयं को उनपर प्रकट किया जिनको मानव बुद्धि सरलता से स्वीकार कर ले। मानव में जो स्वयं है वह चाहता है कि स्वयं को जान ले। वह अपने को दूसरे में अहं के रोमांच द्वारा अर्थात् रस-भाव द्वारा देखता है। शरीर के अस्तित्व में वह सब को सर्वत्र देख सकता है। निरन्तर तत्व ज्ञान की व्याख्या करने के लिए उसे अपने ही प्रतिरूपी ईश्वरत्व का आविष्कार करना पड़ा।

देवी देवताओं की सैकड़ों हजारों मूर्तियों तथा उनके अनगिनत चिन्हों के अनेकों अर्थों की सूक्ष्म परीक्षा करना यहां सम्भव नहीं। फिर भी हम उस अति प्रबल लाक्षणिक अर्थ प्रयोग को समझाते हैं जो एक रथ के पहिये अर्थात् 'चक्र' के रूप में है और जिसका अन्वेषण ऋषियों ने अपनी आत्मा के काल्पनिक मानचित्र द्वारा किया था। व्यवहारिक रीति के अनुसार मुनि लोग अपनी ध्यानावस्था में सूर्योदय की ओर मुँह करके बैठते थे। वे अपने सन्मुख क्षितिज में गोल आकार के सूर्य को सुदूर विस्तरित प्रकाश सहित निकलते हुए देख सकते थे। उसमें उन्होंने एक चक्र की सदा घूमने वाली संचालक शक्ति के तत्व की कल्पना की। ऋग्वेद के स्तोत्रों में सूर्य को किरण के सात रंगों के प्रतिरूप सात कम्मैद घोड़ों के रथ पर सवार हुए वर्णन किया है। चक्र तत्व के इस विलक्षण अस्तित्व को जिसने प्रकृति में प्रवेश किया प्राचीन भारत के भविष्य दर्शी कलाकारों ने ध्यान से देखा। वृत्त के नत तथा उन्नत भागों को एक दूसरे के प्रतिकूल दिशाओं में रखने से एक चक्करदार गति की रचना को हर प्राकृतिक वस्तु में अनुभव किया। वनस्पति विज्ञान द्वारा इस प्रकार के तत्व से सम्बन्धित चक्राकार उत्पत्ति कुछ विद्वानों ने हर वृक्ष तथा पौध में पाई है। प्रश्न-उपनिषद् के अनुसार जीवन की तुलना एक चक्र के केन्द्र से की गई है। और चक्र के आरों पर हर वस्तु स्थिर है। यह चक्र भी विष्णु का एक सांकेतिक चिन्ह है। वृहदारण्यक उपनिषद में चक्र की व्याख्या इस प्रकार की गई है "यह मानव जाति सारे जीव

प्राणियों का मधु है और सकल जीव प्राणी मानव जाति का मधु है। वह वास्तव में 'स्वयं' ही है अर्थात् आत्मा है जो अमर है और अनन्त है। जैसे तमाम आरे धुरे और पहिये के घेरे में स्थिति हैं उसी प्रकार सब जीव प्राणी और यह पृथ्वी पानी, आकाश इत्यादि के सारे 'स्वयं' (आत्मा) में स्थिति हैं। अर्थात् शब्दों तथा व्यक्तियों की रचना की उपमा एक पहिये से दी गई है, जिसका धुरा हृदय है, आरे शक्ति हैं और घेरे पर उसके संसर्ग का स्थान हमारे ज्ञान तथा कृति की इन्द्रियाँ हैं।"

संस्कार सम्बन्धित सारे सांकेतिक चिन्ह साकार रीति से किसी अन्य मौखिक रीति की अपेक्षा अधिक स्पष्ट अर्थ बतलाते हैं। संकेत चिन्ह सूचक ऐसी भाषा है जो आध्यात्मिक यथार्थता को स्पष्ट करने के लिए सीखने और समझने के अभिप्राय से सरल है। दिव्य के कुछ रूपों को इसके द्वारा बिलकुल स्पष्ट किया जा सकता है। भारत में ऐसे सांकेतिक चिन्ह (माङ्गलिक) अधिकता से पाये जाते हैं। शंख, चक्र, पद्म तथा वज्र (गदा) का प्रयोग बराबर कला तथा धर्म में किया जाता है। सब सांकेतिक चिन्हों में रथ के पहिये ने जो कि सब प्रकार की उन्नति का लक्षण है कला तथा धर्म दोनों में गौरव प्राप्त किया है। राजा तथा पुरोहित दोनों चक्रवर्ती कहलाते थे। जीवन के सन्ताप तथा आनन्द की तुलना सदा पहिये की गति से की गई है। रथ को मनोवैज्ञानिक प्राकृतिक गाड़ी माना है जिस पर या जिसमें, अपने इस ज्ञान के अनुसार कि हम कौन हैं, हम जीवित रहते हैं और गतिशील होते हैं। ज्ञानेन्द्रियाँ घोड़े हैं, वश में रखने की शक्ति उनकी रास है, मन कोचवान है और आत्मा सारथी है। भगवान कृष्ण ने रथ पर खड़े हो कर ही भगद्गीता का उपदेश दिया था। महात्मा बुद्ध ने अनन्त दिव्य धर्मशास्त्र का चक्र घुमाया था। आदि भारतीय कला में जब महात्मा बुद्ध की मूर्तियां बनाना वर्जित था तो चक्र को ही उनके उपदेश देने की संचालन शक्ति का प्रतिरूप दिया गया था। ललित कला सम्बन्धी अनुभव तथा धार्मिक अनुभव प्राचीन भारत में चक्र के सांकेतिक चिन्ह की आकृति द्वारा प्रदर्शन की प्रचुरता के साथ बलपूर्वक क्षेत्र में आ गए। स्वास्तिक चिन्ह (यदि यह हिन्दू-बौद्ध सभ्यता से बहुत पहले आविष्कृत हुआ) चक्र आकार से ही लिए जाने के कारण कला तथा धर्म में स्थापित हो गया। इस आकार में पुरुष (शक्ति) तथा प्रकृति (पदार्थ) दो प्रतिकूल घुमाव में दिखाए गए हैं जिसमें से सारी सृष्टि का निर्माण सम्भव हो सका। भारत में विश्व तथा वैयक्तिक संविधान की एक चक्र से तुलना की गई है। इसी कारण पूर्व कालीन भारतीय कला पर, गुफाओं और मन्दिरों में, मानव प्रतिमाओं तथा जीवन के अनेक दृश्यों में जो पत्थर पर खोद कर और अंकित करके दर्शाये गए हम इस चक्र का प्रभाव पाते हैं और एक लयबद्ध तथा संचालक शक्ति की लहर-सी पाते हैं। यह प्रतिमा मूर्तिकला सम्बन्धित चौखटों तथा चित्रों की रचनाओं में सरलता से मिल सकती है। समस्त बौद्ध-हिन्दू कला में गुप्त चेतना की एक सजीव धारा तथा जीवन-चक्र की शक्तियों का हम अनुभव कर सकते हैं। यह चक्र-क्रम इन चक्राकार रचनाओं से विदित है, जैसे अजन्ता की मानव प्रतिमाओं के "चरण-भंग" तथा "अतिभंग" स्थिति के हाव-भाव में,

बाग की गुफ़ाओं में, सांची और बहरुत की चित्रकला तथा मूर्तिकला में। अङ्गों के घुमाव तथा प्रतिमाओं की मुद्रायें प्रत्यक्ष रूप से उस चक्र गति का प्रदर्शन करती हैं जिसको अंत में एशिया के विभिन्न देशों की हिन्दू-बौद्ध कला ने आदि काल में महायान बौद्ध धर्म के प्रवेश द्वारा अङ्गीकार कर लिया। वह देश हैं खोतान, मीरान, तरफ़ान से चीन तक और जावा, कम्बोडिया तथा जापान आदि।

प्रचीन भारत के कलाकारों ने यह विचार कभी नहीं किया कि अस्तित्व की यथार्थता उसकी उत्पत्ति के बीज पर निर्भर है। वह इससे भी आगे स्वयम्भू (ईश्वर) तक पहुँच गया जो कि जीवन चक्र का केन्द्र है। भारतीय कला में आदर्शवाद बीज के प्राथमिक अस्तित्व के आगे निकल गया—उस मण्डल में जहाँ केवल आत्मा का ही अस्तित्व हो सकता है। अजन्ता की एक भित्त चित्रकारी में एक जीवन चक्र बनाया गया है, जिसमें मानव जीवन की सारी स्थितियाँ तथा कार्य कलाप धुरों के बीच में अंकित हैं।

मानव बुद्धि को पूर्ण रूप से समझने के लिए हमको कला तथा धर्म के खोये हुए गौरव को उचित रीति से देखने का प्रयत्न करना चाहिये। भारत में हिन्दू-बौद्ध कला तथा धर्म में लाक्षणिक चिन्हों की आकृतियों के मिथ्या वर्णन से जो अड़चन आ गई है उसको स्पष्ट कर देना आवश्यक है। तभी हम सब प्राणियों में अर्थात कला तथा मानव दोनों में एकता का भाव देख सकते हैं और अपने इस विश्व को सामंजस्य युक्त सम्पूर्ण के रूप में पुनः बल दे सकते हैं। हमारे वर्तमान विश्व को जो दिन प्रति दिन वैज्ञानिक तथा यांत्रिक आविष्कारों द्वारा अधिक शक्तिशाली होता जा रहा है उस पर थोड़ा विचार करना चाहिए और जीवन चक्र में केन्द्रित एकता को समझना चाहिए जहाँ उत्पत्ति का सारा निष्कर्ष स्थित है। सांकेतिक सूचक चिन्हों का अन्वेषण जादू टोनों की रीतियों के लिए नहीं हुआ था, वरन चरम यथार्थता को सिद्ध करने के लिए हुआ था। जीवन चक्र की कल्पना हमारे ज्ञान चक्षुओं के सामने आदर्श की एक शृङ्खला बनाने के लिए की गई थी जो कि प्रगतिशील है तथा विचार और कृति में सर्वदा उन्नतिशील है। इस कारण इस कलह और फूट को जो वैज्ञानिक लड़ाई के द्वारा विश्व का नाश करती जा रही है, उसी समय रोका जा सकता है जब हम धर्म चक्र, जो यथार्थता का चक्र है, के गुप्त अभिप्राय का पता लगा सकें। प्रथम चक्र ने जिसका अन्वेषण एक आदि मानव ने प्रागैतिहासिक युग में किया था जीवन तथा उसके दृष्टिकोण में बहुत परिवर्तन कर दिया। उसके द्वारा ही अनुशासन संस्कृति तथा उन्नति का आगमन हुआ। वही चक्र मोहनजोदड़ो तथा हड़प्पा आदि सब प्राचीन सभ्यताओं में पाया जाता है। इसको भारत में मुनियों तथा कलाकारों ने धीरे-धीरे अपना लिया और अपनी विद्वता तथा चिंतन द्वारा उसमें अधिक प्रतिष्ठा का समावेश किया। चक्र के केन्द्र में जो एकता दर्शाई गई है वह अनन्त आत्मा अर्थात 'प्राण' है। उसका फिर कला और धर्म में प्रयोग कर के अपने मन की विशालता को बढ़ाने का प्रयत्न करना चाहिए जिससे मानव जाति में एकता तथा

बन्धुत्व का भाव आ सके। चक्र केन्द्र एक जीवन स्रोत है जिसके द्वारा शक्तिसमावेशित 'अंह' के मनोवैज्ञानिक विश्व द्वारा प्रवाहित हो सकती है। जीवन चक्र के जो अन्य साधक अङ्ग हैं वह अपने रास्ते पर ठीक ही ठीक चलेंगे, यदि हमने चक्र के केन्द्र को जो कि सर्वव्यापी जीव अर्थात आत्मा है, ठीक से जान लिया है।

———

छः

लोक कला

लोक कला परम्परा प्राप्त कला का एक ऐसा महत्वपूर्ण रूप है कि जिसकी उपेक्षा एक भोंड़ी और गँवारू कला कह कर नहीं की जा सकती। जैसे एक मनोवैज्ञानिक परिच्छेदक बाल बुद्धि की प्रेरणाओं को प्रौढ़मानव के चेतनाधीन भाग में सुरक्षित पाता है और उसके स्वभाव प्रवृत्ति की परीक्षा कर सकता है, उसी प्रकार आदिम लोक कला जो प्रागैतिहासिक युग में उत्पन्न हुई उसकी आन्तर सारगर्भिता की खोज करके भारतीय संस्कृति तथा कला के असली मूल का भी पता लगाया जा सकता है। यदि हम कला में ऐतिहासिक विकास का सावधानी से अध्ययन करें तो हम इस परिणाम पर पहुँचेंगे कि लोक कला तथा ग्राम और नगर क्षेत्र की बनावटी ललित कला का निर्माण कदापि आकस्मिक नहीं हुआ। कला का अपना कालक्रम सम्बन्धित अनुक्रम मनुष्य जाति के उद्गम से हुआ था। कला ने वास्तव में मानव को शिष्टता दी। अन्धयुग के दूरवर्ती काल में दिन प्रति दिन के जीवन संग्राम के बीच भी मानसिक विकास का प्राचुर्य घटित हुआ यह यद्यपि अस्तव्यस्त प्रतीत होता है परन्तु इसने आदिम जाति को कलापूर्ण विषयों के निर्माण करने के हेतु उत्तेजना अवश्य दी।

जैसे-जैसे भूतत्वीय विकास के अनुसार विश्व का परिवर्तन होता गया, मानवता सारे विश्व में प्रसारित होती गई और विशेष परिवृत्ति तथा परिस्थिति के अनुसार उसने अपने व्यवहार आदर्श में भी परिवर्तन कर लिया। पहले कहा जा चुका है कि इस प्रकार के उत्तरोत्तर प्राथक्य के फल स्वरूप ६ प्रकार की मूल जातियों का जन्म हुआ, जो प्रागैतिहासिक युग में पृथ्वी पर भ्रमण करती रहीं। भौतिक स्थिति तथा उनके रहन-सहन के ढंग संतोषजनक न थे। प्राकृतिक कठोरतायें जैसे ज्वाला मुखी विस्फोट, भूकम्प, बनाग्नि, जल प्रलय, अनावृष्टि तथा तूफ़ान उद्दाम थीं और ऐसी अति अनिश्चित स्थिति में किसी भी प्रकार से रहना और समृद्ध होना पड़ता था।

इन अद्भुत असुविधाओं ने फिर भी उनको विचार करने तथा इन अशान्ति-मय यन्त्रणाओं से बचने की आशा से रहस्यमय शक्तियों की अपनी रक्षा के हेतु स्तुति करने को विवश कर दिया। इस प्रकार प्राचीन प्रस्तर युग के आदि मानव ने जंगली जातियों के देवताओं का पूजन, पारस्परिक गुप्त सम्बन्ध सूचक चिन्हों पर सामाजिक रीति रिवाजों को आधारित करने के सिद्धान्त (totemism) तथा आत्मवाद (animism) आरम्भ किया जिसके परिणाम स्वरूप असंगत प्रकार की जंगली जाति के देवताओं की प्रतिमायें तथा गुप्त सम्बंध सूचक चिन्ह, देवी देवताओं के आकृति-चिन्ह तथा पूर्वजों के पुतले विलक्षण प्रकार के विभूषित करने योग्य प्ररचनाओं से स्वच्छता पूर्वक सुशोभित किए गए। धर्म सम्बन्धित कला-आकृतियाँ असभ्य अफ्रीका के वनवासियों की कला के रूप में तथा आस्ट्रेलिया में जहाँ आधुनिक सभ्यता का अन्तः प्रवेश नहीं हुआ है अब भी पाई जाती हैं। पशु तथा वनस्पति आकृतियाँ प्रत्यक्षरूप से वास्तविकता से सम्बन्ध रखती थीं और रेखा चित्र कला के प्राथमिक ज्ञान द्वारा बड़ी सुतथ्यता से बनाई गई थीं। चरित्र शास्त्र तथा नरतत्वीय विज्ञान सम्बन्धी अन्वेषणों द्वारा प्राचीन प्रस्तरयुग के मानव की कला के कुछ ऐसे उदाहरण मिले हैं जो उनकी निपुणता तथा उनकी विविध प्रकार की आकृतियों तथा नमूनों के सृजन करने की योग्यता का प्रदर्शन करते हैं। उनमें प्राकृतिक गुण का कभी भी अभाव न था और आधुनिक समय के जनसाधारण से उनकी तुलना अनुकूल रूप से की जा सकती है। फिर भी अनेक बाधाओं के होते हुए उन्होंने भी एक निश्चित सीमा तक आदि काल में अपनी ललित कलात्मक पहुँच में गौरव प्राप्त कर लिया था और अपने आस पास की वस्तुओं को सुन्दर बनाने का प्रयत्न किया। यह प्रत्यक्ष है कि इस प्रकार की सौंदर्य कला की भावना आदिम मानव में शक्तिगर्भित दशा में स्थित थी। अपने जीवन निर्वाह के हेतु शिकार में कठिन परिश्रम के पश्चात भी उन्होंने आत्म अभिव्यजंन में अनुरक्त होने को समय निकाला जो कि अन्त में स्थिर होकर शिष्ट मानव के सकल उत्तरगामी कलापूर्ण अभिव्यंजन का स्रोत बन गया। कला में ऐसी सकल आदिम चेष्टायें विश्व भर में समान रूप रहीं। वे अभिव्यंजन में शिशु तुल्य तथा निष्पादन में स्वाभाविक थीं। बालक अपनी अनुभवहीन विचार शक्ति में उन खिलौनों के अतिरिक्त जिसे वह ग्राम-हाट में पाकर वास्तविक प्रसन्नता का प्रदर्शन करता है अन्य वस्तुओं की भी कल्पना कर सकता है जो हम ऐसी अकलात्मक रचना में नहीं पा सकते। वास्तव में ऐसे खिलौने हमारे घरेलू जीवन को आनन्दमय बना देते हैं। हम इनमें सृजन करने की ऐसी परमावश्यक आदिम प्रेरणा पाते हैं जिसे ग्राम वासियों ने युगों से जीवित रखा है और जिसे वे घनिष्टता के साथ हमारे दैनिक जीवन के संसर्ग में लाते हैं।

स्पेन में सन् १८७९ ई० में अल्टामीरा की कन्दरा-चित्रों के सर्व प्रथम खोज ने उस युग के, जब कि एशिया, मिश्र तथा यूनानो सभ्यता अज्ञात थी, अनुभवहीन आदिम मानव के रहस्यों का उद्घाटन किया। कला के इतिहास में आदिम जातियों के इस प्रकार के सम्पादित कार्यों की यह कहकर अवहेलना नहीं की जा सकती कि वे मानव जाति के घृणित तथा असभ्य संकेतों के उदाहरण हैं। बल्कि यह

कन्दरा-चित्र उनका जीवन इतिहास उपस्थित करते हैं कि वे अपनी जीविका के लिए दैनिक शिकार क्रिया तथा पशु शरीर के लिए किस प्रकार संघर्ष करते थे।

यदि हम प्राचीन प्रस्तर युग से नव प्रस्तर युग तक अथवा पाषाणयुग और ताम्र युग से लौह युग तक उनके उत्तरदान की क्रमानुसार काल-क्रम शृङ्खला का अनुवीक्षण करें तो हमको उन विविधरूपी धर्म सम्बन्धित कार्य कलाप का अनुभव होगा जिसने उस काल की प्रचलित कला-आकृतियों में समीकरण होने में सहायता दी। अतीत काल में सन्दिग्ध जीवन तथा क्रूर जीवन संघर्ष के कारणवश उनके सीमित अनुभव तथा उनकी उत्पादक कार्यपूर्ति सभ्य मानव समाज से अति प्रशंसा बलात आदान करते हैं।

भारत में इस प्रकार की आदिम कला के उदाहरण सिंघनपुर की रामगढ़ रियासत में, होशंगाबाद में [देखिये चित्र सं० ४] मिर्जापुर जिले के लिखुनिया कोहार तथा बलदरिया स्थानों में, चक्रधरपुर की नदी के चट्टान तल पर तथा विजयगढ़ की कन्दराओं में पाये जाते हैं। यह चित्रकारी प्रायः लाल तथा पीले रंग में चर्बी मिला कर की गई है। मृग, करकेंटे तथा भैंसे बहुतायत से चित्रण किए गए हैं।

जैसे जैसे समय बीतता गया प्राचीन प्रस्तर युग की आदिम संस्कृति की इस शिला चित्रकारी के पश्चात हम मानव को भिन्न सजातीय वर्गों में विभाजित होते देखते हैं। ग्रामीण तथा नगर श्रेणी की संस्कृति अपनी अन्योन्य लाक्षणिक स्थितियों में साथ-साथ उन्नति करती गई और हमारी वर्तमान काल की सभ्यता तक चलती जा रही है।

कई शताब्दियों के अवकाश के पश्चात भारत में पूर्व-वैदिक सिंधु नदी की घाटी में मोहनजोदड़ो तथा हड़प्पा की संस्कृति दृष्टिगोचर होती है। मिट्टी के बर्तनों पर चित्रकारी के कुछ अंश, विभूषित करने योग्य मिट्टी की रकाबियां और मूर्तियाँ अक्षुण कलात्मक चातुर्य के अस्तित्व को प्रदर्शित करती हैं और वे वर्तमान समय के कला निरीक्षकों की परीक्षा में भी उत्तीर्ण हो सकीं। मिट्टी के बर्त्तनों पर चित्रित किए गए कुछ अभिसमय द्वारा निर्धारित किए हुए मानव आकार उन कन्दरा निवासियों की कृतियों से कुछ-कुछ समानता रखते हैं जो उनसे सहस्त्रों वर्ष पूर्व थीं। प्राकृतिक पदार्थों की लय और आकार के ललित ज्ञान द्वारा यथार्थता सहित प्रतिपादन ने सिंधु नदी की घाटी में ऐसी कला का निर्माण किया जो अपनी श्रेणी में अद्वितीय है।

इसके अतिरिक्त यूरोप की यूनानी कला के समान सिन्धु नदी की घाटी की कला भी ऐसा स्रोत प्रतीत होती है कि जिससे भारत की सारी लोक कलाओं की उत्पत्ति हुई। अनेक पौधे, वृक्ष, पशु तथा मानव मूर्त्तियों के समय द्वारा निर्धारित आकार उस तत्व की ओर संकेत करते हैं जो इन पूर्व-आर्य कला द्वारा विकसित सारी लोक कलाओं के अन्तर्लीन हैं।

यूरोप में प्रागैतिहासिक युग की ऐसी असभ्य, धार्मिक तथा आदिम कला ने यूनान में मूर्ति पूजक शैली (Pagan School) की उस महान नागरीय कला का परिचालन किया जो ईसाई धर्म के आगमन पर अन्ततः ईसाई कला के

उच्चतम शिखर पर पहुँच गई। अतएव ग्रामीण लोक कला एक आदर्श रीति से नियम बद्ध होकर विश्व में सर्वत्र व्याप्त हो गई। यह खानदानी धन्धा हो कर कलाकारों क पीढ़ियों द्वारा पुनरावृति रीति से तथा रूढ़िगत ढंग से उत्तरवर्ती वंशजों को प्राप्त होती गई। चमकदार मूल रंग तथा चित्ताकर्षक भड़कीले आकार ग्रामीण लोगों के ध्यान को आकर्षित करते हैं। भारत में नागरीय कला में आदिम पद्धति मुग़ल युग तक स्थिर रही। रेखा तथा समतल रंग ही की यह पद्धति थी। पश्चिमी देशों में इस प्रकार की पद्धतियाँ प्राचीन जर्मनी की गॉथिक (Gothic) तथा कोन्सटेन्टीनोपिल की बाईज़ेन्टाइन (Byzantine) कला के पश्चात समाप्त हो गईं और जागृति युग के पश्चात अधिक वास्तविक तथा यथार्थ प्रतिपादन का आविष्कार किया गया।

लोक कला का विकास प्रबन्धित समूह मण्डल में हुआ जो इसको एक व्यवसाय के रूप में अनुसरण करता रहा और इसका दुष्परिणाम यह हुआ कि यह प्रत्यक्ष रूप से अपरिवर्तनीय हो गई। अन्ततः लोक कला में व्यापारिक दृष्टि-कोण निरन्तर रूप से उन्नति करता गया और भाव-उत्तेजक चित्र-मय अभिव्यंजन तथा आकारों के स्थान में केवल सामुहिक प्रयत्नों तथा अनुभवों द्वारा ही प्रति-रूप निर्मित हुए। ग्रामीण तथा नागरीय कला अपनी उत्पत्ति के समयानुसार तथा उस युग की सांस्कृतिक उन्नति के अनुसार परिवर्तित होती गईं। परन्तु लोक कला सब युगों में प्रायः गति हीन ही रही।

लोक कला का विकास अनेक देशों के परस्पर वाणिज्य सुविधा के अनुसार हुआ। अनेक प्रकार के विचार सूचक चिन्ह जो हमें मिलते हैं उनका निर्माण सदा भारत में ही नहीं हुआ। उनमें से कुछ प्रागैतिहासिक युग के उस काल में विदेश से आए जब द्रविड जाति ने पश्चिम में प्राचीन काल के बेबीलोन, मिश्र, असीरिया, यूनान तथा रोम के निवासियों तथा पूर्व में चीन, सुमात्रा, जावा, मलाया के निवासियों से व्यवसायिक सम्पर्क स्थापित किया। इसी कारण लोक कला का ज्ञान प्राप्त करने के लिए उसके साधारण लक्षण तथा प्रमुख विशेषताएँ जैसे वाल्मीकि रामायण में उल्लेखित हेम मृग, कीटमुख चिन्ह तथा स्वास्तिक चिन्ह इन के अन्योन्य उद्गम स्थान के सम्बन्ध में अभी अनुसन्धान करना शेष है।

ऐजियन तथा सिन्धु घाटी की संस्कृति में परस्पर सम्बन्ध स्पष्ट है। उदाहरणार्थ मिट्टी के पात्र तथा खिलौने जो इन स्थानों में पाये गए हैं चिन्हों तथा प्ररचनाओं में काफ़ी समानता प्रदर्शित करते हैं। इतिहासकारों ने इस साम्य के ऐसे बहुत से उदाहरण ई० पू० ८वीं शताब्दी के पश्चात भी पाये हैं। कौटिल्य रचित अर्थशास्त्र में प्राचीन भारत तथा विदेशों के मध्यस्थ व्यापार की अनेक वस्तुओं के बारे में उल्लेख है। जैसा हम कह चुके हैं बौद्ध चरित पाली मूल ग्रन्थ से भी पता चलता है कि शक्तिशाली अशोक ने जब पवित्र बोधितरु की पौध को अपने पुत्र महेन्द्र के साथ सिंहल द्वीप को भेजा तो उसके साथ दो आदिवासी लकड़बग्घा तथा गरुड़ की आकृति के गुप्त सूचक चिन्ह लिए हुए थे।

प्राचीन प्रस्तर युग की कला तथा लोक कला के दूरवर्ती सम्बन्ध की इस भिन्न प्रकार के गुप्त सूचक चिन्हों तथा व्यवहारों की सूक्ष्म परीक्षा द्वारा तुलना

कर सकते हैं। 'मन्सा'—सर्पदेवी, 'सीतला'—सीतला देवी तथा 'ओलादेवी'—हैजे की देवी इत्यादि मूलरूप से अनार्य उद्गम द्वारा निर्मित हैं और सभ्यता के आगमन के बहुत पहले से आदिम मानव द्वारा पूजी जाती हैं। 'चक्र' और 'स्वस्तिका' दोनों चिन्ह हम जंगली तथा सभ्य जातियों की कला में पाते हैं। 'मुरकी-पुतल' जैसे सस्ते मिट्टी के विशेष प्रकार के खिलौने जो ग्रामीण मेलों में बिकते हैं पेरुवियन, ऐजियन और विश्व के अन्य भागों के पुरातन स्थानों में भी ढूँढ़ कर निकाले जा सकते हैं।

भारत में अनेक स्थानों में पाई हुई पकी मिट्टी की छोटी मूर्तियाँ लोक कला से बहुत साम्य रखती हैं। इन नमूनों का प्रमुख भाग मथुरा, कौशाम्बी, तक्षशिला बक्सर, लौरिया नन्दागढ़, भीटा तथा बसरा से प्राप्त हुआ। सारे प्रागैतिहासिक स्थानों में विषय पदार्थ तथा पद्धति प्रायः समान ही रही है। इसी प्रकार की पकी मिट्टी के खिलौने मध्य पूर्व देशों से खोद कर निकाले गए हैं। पूर्वकालीन संस्कृत नाटकों में से 'मरीचिकटिका' नाटक इस प्रकार के खिलौनों की लोकप्रियता बताता है। कौशाम्बी में मिट्टी की बनी हुई एक विशेष प्रकार की गाड़ियाँ पाई गई हैं। यह मिट्टी की आकृतियाँ कभी-कभी अधिक संख्या में बनाई जाती थीं और इनके पकी मिट्टी के साँचे उस समय बहुतायत से पाए जाते थे।

लोक कला में अति जन प्रिय ऐसे विभूषित करने योग्य डिज़ाइन (आकार) हैं जो अनेक सांस्कारिक उत्सवों पर प्रयोग में आते हैं जैसे बंगाल में 'अल्पना'
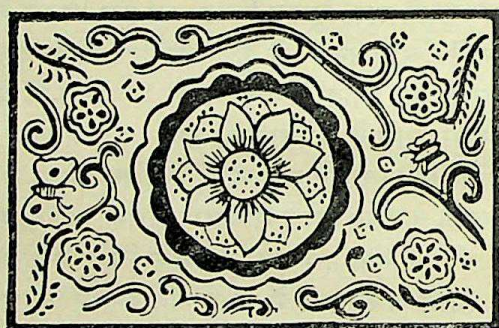
चित्र १२—'अल्पना'—बंगाल लोक कला

[देखिये चित्र सं० १२], उत्तर प्रदेश में 'चौक-पूरन', बम्बई में 'रंगोली' तथा दक्षिण भारत में 'कोलम'। वे केवल विभूषित करने के आकार ही नहीं हैं बल्कि वे आध्यात्मिक अभिव्यंजन के भाव सूचक प्रतीक भी हैं जो जीवन तथा शक्ति की ओर संकेत करते हैं। खिलौनों और गुड़ियों के अतिरिक्त ग्रामीण बालिकाएँ कन्था (कथरी) बनाती हैं जो उनके पुराने वस्त्रों के चिथड़ों से बनाई जाती हैं और जिस पर मनानुरूप लाक्षणिक आकारों की कसीदाकारी होती है। कसीदाकारी के आकारों में मध्यवर्ती कमल पुष्प और चारों ओर लता, हाथी, पुष्प, रथ इत्यादि विस्तार पूर्वक किनारों पर फीते जैसी नक्काशी द्वारा बनाए जाने के

भारतीय तथा पाश्चात्य कला में तुलना
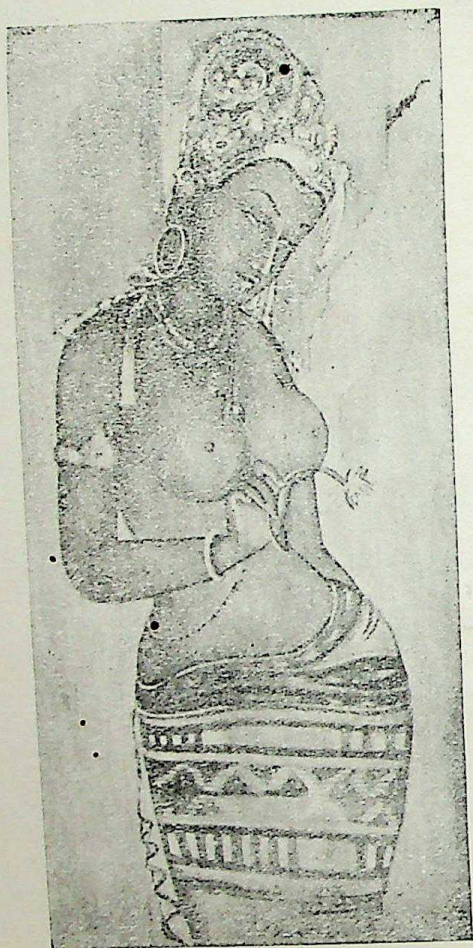
चित्र नं० १० यशोधरा बुद्ध पत्नी गोपा—भित्त चित्रकरी अजन्ता (नवीं शताब्दी)।
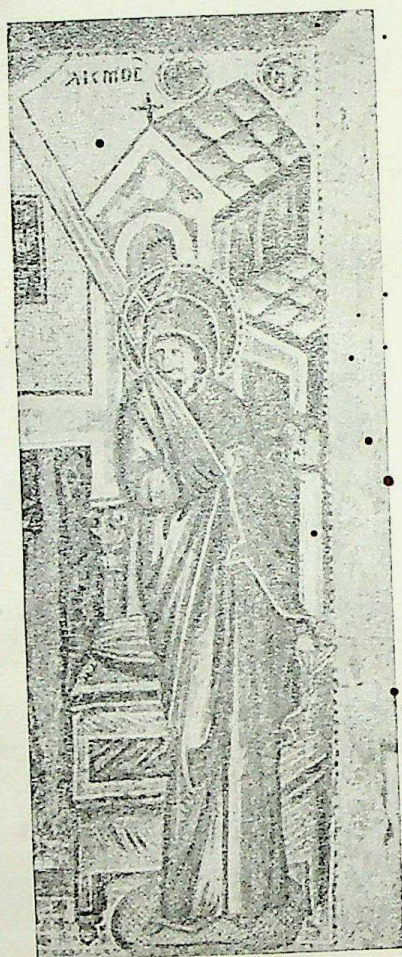
चित्र नं० ११ अननसिएशन—माता कुमारी मेरी, बाईज़ेन्टाईन कला शैली—(१३वीं शताब्दी)।

कारण बड़े प्रभावशाली मालूम पड़ते हैं प्रायः सूती धागे से बनाये जाते हैं। कसीदाकारी के आकारों के लिए स्त्रियाँ प्रायः अनेक तिरछी टेढ़ी रेखाओं के नमूनों का निर्माण कर लेती हैं। यदि हम इन डिज़ाइनों के अनेक अभिप्रायों का बारीकी से अध्ययन करें और अपने अति उन्नतिशील कला के लाक्षणिक चिन्हों से उनकी तुलना करें तो हमें ऐतिहासिक विकास का तथा इन सांकेतिक प्रतिरूपों के स्वयंभू आविष्कार में भाविक्र मानव जाति के क्रमिक उन्नति का पता चल सकता है। इसी प्रकार विस्तार पूर्वक बने हुए बर्तन टांगने के छींके (शिखा) तथा चित्रकारी किए हुए मिट्टी के बरतन ग्रामीण पैंठ को हृदय ग्राही तथा आकर्षक बना देते हैं।-लोक कला में प्रायः कच्ची मिट्टी के खिलौने, कपड़े की गुड़ियाँ, लकड़ी की मूर्तियाँ तथा शोला की बनी हुई प्रतिमायें इत्यादि होती हैं। चमकदार आनन्ददायक मूल रंग बालकों को तो आकर्षित करते ही हैं वे प्रायः जन समूह के भी चित्त पर गहरा प्रभाव डालते हैं।

कलश (गागर) चित्रकारी ग्रामीण कला की विशेषता है जो पैंठ के बज़ारों में सस्ते दामों में मिल जाती है। ग्रामीण कलाकार रामायण तथा महाभारत के अनेक दृश्यों के चित्र गोल-लपेटे हुए कागजों पर बनाते हैं जिनको वे श्रोतागणों के सामने खोलते जाते है और कथा का वर्णन करते जाते हैं। वास्तव में यह ऐसे चल-चित्र की उद्देश्य पूर्त्ति करते थे जिसके अन्वेषण की कल्पना सभ्य मानव अब इस युग में कर सके हैं। ऐसे चित्र बड़े कौशल से रेखा और रंगों में बनाए जाते थे और अति प्रभावशाली होते थे और कलाकार उनको बड़े साहस से बिना किसी प्रयास के सभी सारभूत वस्तुओं को प्रदर्शित करते हुए बना लेते थे। कलश चित्रकारी की पुनरावृति सदा की जाती थी और वाणिज्य पदार्थ के रूप में बाज़ार में बेची भी जाती थी। यह इस समय के रंगीन छपाई के उद्देश्य को प्रधान रूप से पूरा करती थी। लोक कला के चित्रों में कलाकार वास्तविक आकारों का रूप उनकी पुनरावृति के लिए रुढ़ि के अनुसार घटा बढ़ा कर बदल सकते थे। अजन्ता की उच्च कोटि की कला ने रेखा तथा समतल रङ्गों की चित्रकारी की आदि रीतियों को स्थिर रखा। वे जीवन सम्बन्धित आकारों में अपनी कल्पना द्वारा ही प्रकृति की आश्चर्यजनक वास्तविकता की समानता को प्रकट करते थे। भारत में उच्च कोटि की शैली के कलाकार विषय वस्तु अथवा आकारों में पुनरावृति को कभी प्रोत्साहन नहीं देते थे। कलाकार इस प्रकार आध्यात्मिक चिन्तन प्राप्त करते थे और दृढ़ कल्पना गति का उपार्जन करते थे। यूरोप की समकालीन बाईज़ेन-टाइन कला ने इस प्रकार के वास्तविक श्रेणी के प्रतिरूप का उत्पादन करने में निराशापूर्ण असफलता प्राप्त की और वह कठपुतली सदृश्य प्रतिमायें ही बना कर रह गई (देखिये चित्र नं० ११) जिसकी तुलना ग्रामीण कलाकारों की कलश चित्रकारी से ही की जा सकती है।

अन्य देशों की कला के सदृश्य भारत में लोक कला उच्च कोटि की नागरीय कला के साथ-साथ सभ्य नागरिक जन समूह के संरक्षण में फलती फूलती रही। लोक कला को एक निश्चित व्यापारिक उद्देश्य की पूर्ति करनी थी। यह प्रधानतः ग्राम हाटों के लिए थी। परन्तु इसने मानव के अनेक धार्मिक उत्सवों

पर भी उपयोगता बरती। लोक कला के कारण ग्रामीण जीवन अधिक आनन्द-दायक तथा स्फूर्तिमान बन गया।

अन्त में यह भी जान लेना चाहिए कि लोक कला से जो शिक्षा मिलती है वह ललित कला के लिए सर्वदा प्रेरक न भी हो फिर भी वह देश की व्यापारिक प्ररचनाओं की उन्नति के लिए हानिकारक नहीं समझी जा सकती। रंग बिरङ्गी आकर्षक लोक कला इस प्रकार व्यापारिक कला में आत्मसात की जा सकती है। लोक कला और ललित कला के बीच प्रतिद्वन्द्विता का कोई प्रश्न नहीं उठता क्योंकि लोक कला सदा अपने दायरे में अनुभव हीन ग्रामीणों की आवश्यकताओं को पूरा करती रहेगी और ललित कला एक सौंदर्य की वस्तु है जो अति सभ्य सौंदर्य कला ज्ञान गर्भित विशिष्ट मानव के आनन्द का साधन है।

इसके अतिरिक्त लोक कला को उसके ग्रामीण वातावरण में ही रहने देना चाहिए। यदि उसको उन्नति के उद्देश्य से नागरीक क्षेत्र में खींच लाया गया तो वह देश की ललित कला के विकास में विघ्न ही नहीं डालेगी बल्कि अपने प्राकृतिक सुखद रङ्ग रूप को भी त्याग देगी जो दोनों ढ़ंग की कलाओं की प्रगति के लिए अनुचित तथा हानिकारक सिद्ध होगा।

———

सात

विश्व को भारतीय कला का अंशदान

विक्टोरिया युग के मध्य में पाश्चात्य सभ्यता का मोहक प्रभाव जैसे ही कम पड़ा यह प्रत्यक्ष होने लगा कि हमारी कला तथा सभ्यता का स्वयं अपना ही एक विशेष रूप नहीं था, वरन् वह सदा विश्व के अन्य देशों को प्रेरणा भी देती रही है। हम अपने भव्य भूतकाल के गम्भीर विद्यार्थी बन गए तथा उसकी वंश परम्परा के प्रति सचेत भी हो गए। प्राचीन तथा मध्यकालीन भारत के इतिहास कारों ने यह बताया है कि उस समय भी भारत ऐसा देश न था जो कच्छप की भांति सदा अपने सर को अन्दर किए बैठा रहा हो। ई० पू० ६वीं शताब्दी के आरम्भ में पाणिनि के संस्कृत व्याकरण में तथा मनु संहिता में भी विदेशी संसर्ग के निर्देश पाए जाते हैं जिसमें कि प्राचीन समय में यवन लोगों के ब्राह्मण युग में भारत में आने का विवरण है। मोहनजोदड़ो, चान्होदड़ो और हड़प्पा सिन्ध में. तथा पैथान, मस्की और तेर हैदराबाद-दक्खिन में जो अनेक स्थानों के अन्वेषण हुए हैं उससे प्राचीन भारत का इतिहास ई० पू० ३००० वर्ष या इससे भी अधिक पीछे हट गया है। हमको उस समय की एक विशेष प्रकार की वैदिक सभ्यता का पता चलता है कि जो विस्तुतः अत्याधिक उन्नति शिखर पर पहुँच चुकी थी। अति चमकदार मिट्टी के पात्र, तांबे के बर्तन, पकी हुई मिट्टी की मूर्तियाँ, माला के दाने पत्थर और शीशे की चूड़ियां, स्नानागार तथा स्वास्थ्य सम्बन्धी व्यवस्था से विदित होता है कि उस समय के मानव ने जो जीवन व्यतीत किया वह कला अथवा सौंदर्य ज्ञान से शून्य न था। मोहनजोदड़ो की पकी हुई मिट्टी के पात्रों पर उभरी हुई नक़्क़ाशी के अद्भुत विशिष्ट चिन्ह हिन्दू-आर्य मूर्तिकला की सबसे पूर्व शैली का प्रदर्शन करते हैं। ई० पू० तीसरी शताब्दी के सारनाथ के अशोक स्तम्भ के मस्तक पर खोदकर बनाए हुए पशु आकारों से उनकी तुलना भली प्रकार की जा सकती है। दोनों ही अत्यन्त प्राकृतिक रीति से बनाई गए हैं। मोहनजोदड़ो में गेंडे, सांड़ तथा बाघ प्रायः जीवित सदृश चित्रित किए गए थे। स्पष्ट है कि ऐसी संस्कृति

केवल इस खोदे हुए क्षेत्र में ही सीमित नहीं रह सकती थी। वह सिन्ध के बाहर भी प्रसारित हुई। आधुनिक विद्वानों ने सिंध और सुमेरिया जैसे दूर देशों की संस्कृति में सादृश्य का अनुभव किया।

भारत की उत्तर कालीन बौद्ध सभ्यता का ऐशिया की सांस्कृतिक गति विधि पर भारी प्रभाव पड़ा। हमको मालूम है कि भारत की विशालता का रहस्य जानने ही के लिए यात्री तथा विद्यर्थीगण हिमालय के उस पार से इधर आने में अति सङ्कटपूर्ण मार्ग की यात्रा करते थे। बौद्ध धर्म के साथ-साथ आरम्भ के चीनी यात्रीं अपने साथ भारत की कला को भी सुदूर पूर्व के देशों में ले गए। नालंदा, तक्षशिला तथा सारनाथ के विख्यात विश्व विद्यालयों तथा बहुत से अन्य प्राचीन मठीं तथा देवालयों से कला, दर्शन तथा साहित्य उन्नति करके ऐशिया में सर्वत्र फैल गया। चीन, ज़ापान, कोरिया, सुमात्रा, जावा तथा बाली के विद्वान विद्यार्थी तथा कलाकार यहां शिष्य होकर आए और अपनी तीर्थ यात्रा के प्रमाणिक विवरण छोड़ गए। जो कुछ भी वह अपने साथ ले गए वह उनके देश में समीकृत हो गया। परन्तु फिर भी उन्होंने अपने मूल तत्व के लक्षण स्थिर रखे जैसा कि स्याम, कम्वोडिया, जावा, बाली और सुमात्रा की ऐशियन-भारतीय कला से स्पष्ट है। इसके परिणाम स्वरूप जावा की ऐशियन-भारतीय कला में हम भारतीय कला के भागदान का बड़ा प्रभाव पाते हैं जैसे यूनान में सहस्र बौद्ध मन्दिर वाले बालियों के मन्दिरों की मूर्तियों और चित्रों तथा वारोबोडियोर की मूर्तिकला में तथा अंकोर वट में जो कि निश्चित रूप से विश्व का सब से महान शिल्प कला का कीर्ति-स्तम्भ है। कम्बोडिया में श्री देवी मन्दिर के अनुसंधान के परिणाम स्वरूप भारत उत्पत्ति की अनेक पत्थर मूर्तियां मिली हैं। वे सब बैंककाक के राष्ट्रीय संग्रहालय में संरक्षित हैं। वे प्रधानतः वैष्णव उत्पत्ति की हैं। यद्यपि खामेर का शासकीय धर्म हिन्दू ही था महायान बौद्ध धर्म भी जो हिन्दू धर्म से विचित्र रूप से मिश्रित हो गया था, सहन किया जाता था। वहां की कला पर सर्व प्रथम भारतीय कला के प्रभाव का पता सातवीं शताब्दी से चलता है और उसके पश्चात् तो भारतीय संस्कृति के प्रत्यक्ष प्रभाव की लहर पर लहर दौड़ती प्रतीत होती है।

भारत की सुचित्रित कला चीनी तुरकिस्तान के खोतान तथा मीरान प्रदेश में विस्तीर्ण हुई और हमको रेशमी कपड़े पर की गई चित्रकारी के उदाहरण समय के उत्पातों से भी बचकर अभी तक मिलते हैं। यह भारतीय कला के चेतनत्व को भी प्रदर्शित करती है। हमें अब भी आश्चर्य है कि हमारी कला के विचार सूचक चिन्ह, हमारी टेकनीक तथा हमारे निर्माण के सिद्धान्त विदेशों में ऐश्वर्यमान रह सके और वह भी एक दुष्कर प्रदेश में स्थापित होने के पश्चात्। स्वाभाविक रुप से ऐसी घटना की व्याख्या आवश्यक है। भारतीय संस्कृति का वृहतर भारत में प्रसार प्रधानतः इस आध्यात्मिक वास्तविकता के कारण ही हुआ कि भारत ने सदा शुद्ध हृदय से लौकिक यथार्थता के सत्वरूप में प्रवेश करने का प्रयत्न किया और वह जीवन के वाह्य महात्म्य से कभी सन्तुष्ट नहीं रहा। हमारे कला तत्वज्ञानियों ने जीवन व्याप्ति का सदा उपदेश दिया है यद्यपि वे इसको सांसारिक सफलता के रूप

शुद्धि पत्र

पृष्ट ४५ पंक्ति १९ व २० : शब्द 'पश्चात' तथा भारत-बौद्ध, के मध्य यह शब्द पढ़े जांय :—

"भारत से उत्तम सम्बन्ध स्थापित किया । इसी कारण हमें"

में कभी नहीं समझ सके। शंकर और रामानुज के समय से पहले जाति और धर्म ने किसी प्रकार की रुकावटें नहीं डाली थीं और समाज के लोग बौद्ध धर्म का प्रचार करने के लिए दूर-दूर देश तक यात्रा कर सकते थे। वे सिंहलद्वीप, चीन, तथा अफ़गानिस्तान जहाँ कहीं भी उन्हें अच्छा लगा चले गए और वहाँ पर गृह निर्माण-विद्या, मूर्तिकला तथा चित्रकला के रूप में अपने देश के चिन्ह छोड़ आए। यह विचार करना अनुचित होगा कि संस्कृति-संसर्ग एक ही पक्ष से सम्भव हो सकता है। भारत ने भी इस प्रकार के संसर्ग से खूब लाभ उठाया। हमारे देश के कला इतिहास में अनेक सुन्दर वस्तुएँ हैं जो बाहर से आईं। हम कभी भी ऐसे मूर्ख नहीं थे कि किसी उत्तम वस्तु को इस कारण छोड़ देते कि वह विदेशी है। हम तरुण थे, साहसी थे, शक्तिशाली थे और थे उन्नतिशील। इसी के फलस्वरूप चन्द्र-गुप्त प्रथम ने अपनी राजधानी पाटलीपुत्र में फ़ारस-पोलेण्ड सम्बन्धी शिल्पकला का प्रतिरूप बनवाया था। यह एक बहुत ऐश्वर्यशाली राजभवन था। हम अब भी इस बात की कल्पना नहीं कर सकते कि यह किस प्रकार सम्भव हुआ होगा कि एक सौ पत्थर के खम्भों पर खड़ा बड़ा कमरा अति चकमदार फ़र्श सहित खोद कर बनाया जा सका जब कि उस समय ऐसे महान कार्य करने के लिए भाप, गैस या बिजली जैसे पदार्थों तथा उनकी शक्तियों का नाम भी किसी को नहीं मालूम था।

बौद्ध अविलेख से हमें ज्ञात होता है कि महेंद्र ने सिंहल द्वीप पर आक्रमण किया और सिंहल द्वीप के नृपति निश्या ने बौद्धमत को ग्रहण करने के पश्चात भारत-बौद्ध मूर्तिकला तथा भवन निर्माण के नमूने अनुराधापुरी विध्वस्त अंशों में मिलते हैं जिन्होंने सिंहल द्वीप की बाद की छोटी तथा बड़ी कलाओं को प्रेरणा दी।

अब तक प्राचीन भारत के ही उदाहरण लिए गए हैं। परन्तु यह विचार करना अनुचित होगा कि बौद्ध धर्म के पतन के पश्चात भारत की उन्नति समाप्त हो गई। मुग़ल सम्राटों के समय में भी भारतीय कला ने अपनी महान परम्परा को अच्छी अवस्था में जीवित रखा। हमको यह भी ज्ञात है कि ईरान में शाह अब्बास प्रथम ने प्रसिद्ध राजकीय कलाकार विशनदास को अपना सादृश्य चित्र बनाने के लिए विशेषरूप से बुलवाया था। पश्चिम में रामब्रेन जैसे कलाकार उस समय (सन् १६५४ ई० से १६५६ ई० तक) के मुग़ल लघु चित्रों के नमूने एकत्रित करने के लिए उत्सुक थे। वे नमूने अब भी वियाना के स्काइन ब्रान राजमहल तथा आक्स-फ़ोर्ड की बाडलियन लाइब्रेरी में सुरक्षित हैं। उसने मुग़ल लघु चित्रों की कई प्रति-लिपियाँ भी बनाईं। मुग़लों ने केवल चित्रकला में ही नहीं बल्कि भारत की भवन निर्माणकला में भी अंशदान दिया, जिस भारतीय-अरब कला का नमूना ताजमहल आज तक संसार की अति महान शिल्पविद्या के स्मारक चिन्ह स्वरूप स्थित है। सासेराम में शेरशाह बादशाह का ग्रेनाईद (एक तरह का कठोर पत्थर) का विशाल मक़बरा, बीजापुर में आदिल शाह का प्रसिद्ध विशाल मक़बरा, अक़बर बादशाह के फ़तेहपुर सीक्री और देहली क़िलों के सुन्दर महल कुछ ऐसी वस्तुएँ हैं जिनके निर्माण पर किसी भी देश को अभिमान हो सकता है।

मुग़ल साम्राज्य के पतन के पश्चात देश की जीवन शक्ति मानो निर्बल हो गई

थी। इस कारण जब भारत ने विश्व के अन्य देशों से संसर्ग स्थापित किया तो उसका अन्निहित परिणाम यदि स्वयं अपनी बुद्धि के विकास की संकल्पित उपेक्षा नहीं तो कम के कम उसकी ओर से उदासीनता अवश्य थी। शिक्षित पुरुष विदेशी आचार व्यवहार का अनुकरण करने और अपनी कला के परम्परा प्राप्त महात्म्य को त्यागने लगे। परन्तु बीसवीं शताब्दी के आरंभ में लार्ड कर्जन ने समस्त विचार शील पुरुषों का ध्यान भारतीय कीर्ति स्तम्भों की शोभा, सुन्दरता तथा विशेषता की ओर आकर्षित कर दिया। अब तक कला रुचि केवल भवन निर्माण की ओर ही थी। डाक्टर अविनेन्द्रनाथ टैगोर ने उस रुचि के स्तर को भारतीय संस्कृति के मुख्य सिद्धान्तों की गम्भीर गुण ग्राहकता के रूप में उठा दिया और अपने शिष्यों के साथ उन्होंने इसी आशय से कला को उत्तेजित किया। उनका प्रयत्न सफल भी हुआ। अब भारतीय चित्रकला की यह कहकर निन्दा करना सम्भव नहीं रहा कि दृश्य विज्ञान तथा शरीर रचना शास्त्र द्वारा उसका प्राकृतिक प्रतिपादन न होने से वह आदिम है। इसके अतिरिक्त यह निश्चय करने के लिए पर्याप्त प्रमाण मिलते हैं कि भारतीय चित्रकारी, संगीत तथा अन्य ललित कलाओं ने यूरोपीय-अमेरिकी आधुनिक कला पर प्रभाव डाला है क्योंकि उसने भी प्राकृतिकता की अपेक्षा काल्पनिकता का अनुसरण करना आरम्भ कर दिया है। यदि १९ वीं शताब्दी में यूरोप तथा अमेरीका पर भारत का मुख्य प्रभाव दर्शनशास्त्र द्वारा पड़ा तो २० वीं शताब्दी में यह कला द्वारा पड़ रहा है।

हर राष्ट्र में उसके निजी विशेष प्राकृतिक तथा मानसिक लक्षण होते हैं। कला की उन्नति उसके चारों ओर प्रयत्नशील जीवन के विना नहीं हो सकती। यह जीवन ही हर देश की कला-आकृति को रूप देता है। इस कारण व्यक्तिगत गुण अवगुण का निर्णय तभी हो सकता है जब हमको क्रमिक उन्नति की गति तथा देश की सभ्यता की सफलता प्राप्ति का ज्ञान हो। भारत के पास स्वयं अपनी परम्परा है और संसार ने उससे लाभ उठाया है। अब विश्व को भारत के उत्तरदान का पहले से अधिक ज्ञान होना चाहिए और हम भारतवासियों को भी इससे अवगत होना आवश्यक है क्योंकि हमको इसका आभास होता है कि आत्मिक उन्नति द्वारा भारत का शान्ति सन्देश जिसको इतने समय से वह अपनी कला तथा संस्कृति द्वारा प्रतिपादन करता आ रहा है किसी न किसी समय विश्व को ग्रहण करना पड़ेगा। यदि प्राचीन तथा मध्यकालीन युग में भारत ऐशिया की सभ्यता का केन्द्र था तो आधुनिक युग में उसे इससे भी अधिक उन्नति में भाग लेना है और समस्त विश्व को इससे कहीं अधिक तथा विशेष महत्व पूर्ण अंशदान देना है। हमारा दृढ़ अनुमान है कि यह अंशदान प्रधानतः भारत की ललित कला द्वारा ही प्राप्त होगा। भारत अपनी उत्पादक कल्पना शक्ति में कभी भी दरिद्र नहीं रहा।

आठ

यूरोपीय कला में आधुनिक प्रवृत्ति

वास्तव में कला सम्बन्धी आधुनिक दृष्टिकोण तथा विचार पद्धति १०० वर्ष पूर्व की मान्यतायें हैं और इसी कारण वे मारसीलियो, फ़िसीनों, जिओर जियो वेसिरी, ऐलिक फ़ौरे, कोरिल मेंडर तथा अन्य अनेक मध्यकालीन युग के समालोचकों की टीका से दूर हैं क्योंकि उन्होंने कला पर विश्लेषणात्मक व्याख्या न करके विशेषकर कलाकारों के इतिहास पर ही लिखा है। इन कला इतिहास-कारों में सबसे महान थे ऐलिक फ़ौरे जिन्होंने लगभग १३वीं शताब्दी के अन्त में इटली के कलाकारों पर एक विस्तृत रचना का प्रथम बार निर्माण किया। अपनी पुस्तक के प्रथम संस्करण के हर पहले वाक्य में इन्होंने लिखा है—"कला जो जीवन को अभिव्यक्ति करती है उतनी ही रहस्मय है जितना कि जीवन। वह जीवन सदृश्य हर सूत्र से निकल भागती है।" अपनी रचना में उसने विश्वव्यापी समझौते के लिए एक सार्व लौकिक समीकरण खोज निकालने का प्रयत्न किया। यह पुरातन कला-इतिहासकार प्रायः यह बताते हैं कि एक समकालीन कला-कार दूसरे परिचित तथा श्रद्धेय कलाकार की जीवन कथा तथा उसकी सफलता का किस प्रकार प्रतीकार करता है और उल्लेख करता है। विक्टोरियन युग के वाल्टर पेपर तथा रस्किन जैसे विद्वान समालोचकों ने पहले भिन्न-भिन्न शैलियों तथा उनकी विचार प्रवृत्ति का विश्लेषण किया और अन्त में हमारे समय के क्लाइव बैल, रोगर फ्रे, जान गौर्डन, मैरियट, विलेंस्की तथा हर्बर्टरीड जैसे महा-नुभावों को ऐसी साहित्यक कला आलोचना के लिए प्रेरणा दी। इन समालोचकों ने मनोवैज्ञानिक विश्लेषण के प्रयोगात्मक शास्त्र में प्रायः प्रवेश साधन का एक बिलकुल नया हीं क्षेत्र ढूंढ़ निकाला। प्रकृति पूजा अर्थात् टैकनिक में परम्परा प्राप्त सिद्धान्तों के निर्वाह का उहोंने बिलकुल नया मूलांकन कर डाला है।

आधुनिक कला समालोचकों के अनुसार डीगो, पिसारो तथा रीनौयर के समय से प्रभाववादी चित्रकारों ने प्राकृतिक तत्वों की टेक्नीक को जैसी कि उनको

उभरी हुई नक़ाशी तथा धूप-छाया के चित्रण द्वारा कला के पुनरुत्थान के काल से सिखलाई गई थी छोड़ दिया। वास्तव में फ़ोटोग्राफ़ी के अन्वेषण से पश्चिमी कला को भारी धक्का लगा और चित्रकला को प्राकृतिक विषयों की इस प्रकार की नक़ल से मुक्त कर देने के अभिप्राय से एक नई विचारधारा का अन्वेषण किया जिसको मौरिस डेनिस ने हाल ही में इस प्रकार वर्णन किया है—"चित्र एक समक्षेत्र है जिसको रंगों के एक निश्चित क्रमानुसार संग्रह से ढँक दिया गया है।" आधुनिक कला समालोचकों के अनुसार जैसे कवि एक कन्या की हंस से तुलना कर सकता है, उसी प्रकार एक चित्रकार भी अपनी सृजन शक्ति को गति प्रदान कर आकृति को अति श्रेष्ठ बना सकता है। वे इसको "तर्क युक्त रचना के आधार पर वास्तविकता के विरुद्ध संघर्ष अथवा क्रूर उत्तेजना" कहते हैं। इन समालोचनाओं ने जान बूझकर आधुनिक फ्रांसीसी कलाकारों के अनुभवों का पक्ष लिया। मतीसे, रौनेट, वालमिंक जो फ़ॉव (Fauvism) चित्रकला के प्रवर्तक हैं निरीक्षण द्वारा प्राप्त उत्तेजना को चित्रण करने से इनकार करते हैं। इसी प्रकार पिकासो, बर्क, विलन तथा लेजर जिन्होंने "क्यूबिज्म" (कोण पद्धति की चित्रकला) ललित कला का अनुमोदन किया त्रिपरिमाण सम्बन्धित आकार (Three-Dimensional) के पक्ष में प्रतीकार हुए और स्वभाविक प्रवृत्ति तथा अन्तः प्रेरणा को भावनापूर्ण वास्तविकता कहकर त्याग दिया। यद्यपि प्रभाववादी सार्थकता को अपने चित्रों में वापिस लाने के लिए उत्सुक थे परन्तु "सुररियलिज्म" (फ्रांसीसी कला आन्दोलन) ने कला आकृति को अवचेतन चित्त की कल्पना तथा स्वप्न अभिव्यंजन में समाप्त कर दिया। इसी प्रकार प्रकृति को हर स्थिति में 'क़ैनवस' पर चित्रन करने का पाश्चात्य कला का पुराना प्रिय आदर्श वर्तमान पीढ़ी के कलाकार तथा कला समालोचकों के एक समूह के कारण सुदूर खिसका दिया गया। उनके विचार में आरम्भ की सफलतायें अति भावनात्मक तथा वास्तविक थीं और फल स्वरूप यूरोपीय कला की प्रगति में बाधा डालती थीं।

अठारवीं तथा उन्नीसिवीं शताब्दी में कलाकार टैकनीक तथा विषय वस्तुओं के चित्रमय भाषान्तर की ओर जिसका उस समय रिवाज हो गया था अधिक ध्यान देने लगे। सौ वर्ष पुराने सिद्धान्त १९वीं शताब्दी में छोड़े न जा सके। परन्तु अन्ततः बीसवीं शताब्दी में पाश्चात्य देशों में थोड़े समय में ही इनका अन्त हो गया। यूरोप में आधुनिक शैली के कलाकार तथा कला समालोचकों ने कला में वैज्ञानिक रीति द्वारा अति दृढ़ता से नये झुकाव उत्पन्न करने का प्रयत्न किया। यह कलाकार अहंवादी हैं और तर्क द्वारा सिद्ध करना चाहते हैं कि "चित्र की रचना में केवल प्रकृति ही जो कलाकार को विषय तथा आधार प्रदान करती है मूल तत्व नहीं है, कलाकार स्वयं भी है जो अपनी कृतियों के द्वारा दूसरों को सन्देश देता है कि वह स्वयं क्यों अनुभव करता है और वह स्वयं क्या है—जीवन का वास्तविक तत्व।" कला के प्रति इस प्रकार के वैज्ञानिक और भौतिक विचार पाश्चात्य कला समालोचना की पद्धति के इतिहास में आज भी बराबर पाए जाते हैं।

चित्र नं० १३ महिला—मोन्टी-इटली, प्रकाशचित्रीय कला—बिठलाकर बनाया चित्र।

यह कहना सर्वथा न्याय विरुद्ध है कि पाश्चात्य कला ने आरम्भ से ही प्रकृति का अनुकरण करने के आवश्यक कार्य को अपना लिया था। पूर्व मध्यकालीन युग में यूनानी कला के संक्रमणकारी काल ने एक विशेष प्रकार की नियम निष्ठता तथा कठोरता उत्पन्न कर दी थी। उसके स्थान पर जब बाईज़ेनटाइन परम्परा की स्थापना हुई तो उसने चित्र रचनाओं में इस प्रकार की कठोरता क्रमशः मिटा दी। तो भी संस्कारशील ज्ञान का उस युग में पूर्णरूप से अभाव था। ईसाई धर्म के समान बाईज़ेनटाइन कला का निर्माण पूर्वीय प्रभाव के द्वारा हुआ। पूर्वीय देशों की कला अवैयक्तिक थी और इस कारण मानव की भौतिक तथा शरीर-सम्बन्धी (ana omieal) विश्व की यथार्थता से रिक्त थी। इसी कारण बाईज़ेनटाइन विचारधारा मध्यकालीन युग की पुनर्जागृत कला से भिन्न थी [देखिये चित्र सं० ११व१२]। दीवार पर या यूनानी गिरजों में बनाई हुई मानव आकृतियां ही मानव प्रवृति तथा भावनापूर्ण प्रकृतिवाद से रिक्त थीं यहां तक कि यथार्थवादियों ने इन चित्रों को विभीषका और हास्यजनक कहा। यह एक कैथोलिक कला थी और सदा पाश्चात्य देशों के आध्यात्मिक तथा सांस्कृतिक प्रयत्न की एक सीढ़ी मानी जायगी। बाईज़ेनटाइन कला ने १००० वर्ष से अधिक समय तक मूर्तिपूजा के विरोध द्वारा बहुत हानि उठाई। उस समय कला की किन-किन बहुमूल्य वस्तुओं का विनाश हुआ इसका कभी भी किसी को अनुमान न हो सकेगा। बाईज़ेनटाइन अथवा गौथिक कला ने, जो कि ईसाई पवित्र आत्माओं की सुचित्रित अभिव्यंजनायें थीं, सदा ईसाई धर्म की काल्पनिक कथाओं तथा उसके अनेक लाक्षणिक चिन्हों का उत्पादन किया। शब्द आईकन (ICON) जिसका कि अर्थ प्रतिमा अथवा मूर्ति है और जिसके आधार पर बाईज़ेनटाइन कला स्थिर है उसकी उत्पत्ति यूनानी शब्द ईकौन (EIKON) से हुई। यह केवल एक प्रतिमा की प्रतिछाया थी, न कि फ़ोटोग्राफ़। इस युग के सब से अधिक चित्र ईसाई ऋषियों तथा पादरियों ने सर्वथा अपनी कल्पना द्वारा ही सम्पादित किए। उस समय मॉडेल (model) या चित्रों के लिए बैठने की प्रथा अज्ञात थी। पवित्र मूर्तियों के चित्रों का निर्माण अगाध चिन्तन द्वारा ही किया जाता था। इसके परिणाम स्वरूप मूर्तियां कैनवस पर अवश्य अंकित की जाने लगीं परन्तु पृष्ठभूमि पर बिना किसी प्रकार के भी चित्र-विद्या उद्देश्य के चिन्ह छोड़े हुए। इस प्रकार ईसा मसीह की प्रतिमा का प्रथम निर्माण पूर्वकालीन ईसाई युग के रहस्यवादी कलाकारों द्वारा हुआ। यह विशेष प्रकार की पूर्वीय परम्परा यूरोप में लगभग सातवीं शताब्दी से बारहवीं शताब्दी तक प्रचलित रही। बाईज़ेनटाइन कला की मूलभूत रीतियाँ पूर्वपुनरुत्थान तथा पुनरुत्थान शैलियों में किसी सीमा तक बनी रहीं। प्राचीन बाईज़ेनटाइन 'मैडौना उत्तरकाल में अधिक मानवी तथा यथार्थ रूपी स्त्री बन गईं। उसी समय कल्पना शक्ति द्वारा मैडौना की धारणा ने क्रमशः सजीव माडल या बैठने वालों के चित्रों को प्रतिस्थापित कर दिया। उत्तर बाईज़ेनटाइन परिपाटी के तमाम चित्रों में बैठने वालों की अद्भुत थकान का अनुभव स्पष्ट होता है। [देखिये चित्र सं० १३] इन कलाकारों के अनुसार "जब तक कि कलाकार को किसी निश्चित

विषय तथा मॉडल में अभिरुचि न हो वह कलाकार ही नहीं है।" यह विश्वास करना वास्तव में आश्चर्यजनक है कि कला में यथार्थता सम्बन्धी अभिव्यक्ति के विरुद्ध विद्रोह के पश्चात भी किसी कलाकार ने इस विधि को नहीं त्यागा। सुररियलिस्ट (Sur-realist) कलाकारों के चित्रों में किसी मूर्ति की कुरुपता का कारण किसी मॉडेल के सामने अद्भुत नतोदर अथवा उन्नतोदर दर्पण को सामने रखने का प्रयोग ही बताया जा सकता है। इस विषय में परिवर्तन केवल इतना ही हुआ कि इन मॉडेलों के व्यक्तिगत रूप से कलाकार की इच्छा के अनुसार ही भिन्न-भिन्न प्रकार से प्रयोग किया गया। रङ्गीन फोटोग्राफ़ी के आगमन के परिणाम स्वरूप जो मॉडेल तथा वास्तविक दृश्यों से प्राकृतिक दृश्य बनाये जाते थे उनकी असली विशेषता प्रायः कम हो गई। कल्पनावादियों की रीति के अनुसार ग्राम दृश्यों की चित्रकारी का अन्वेषण प्राचीन समय में चीन तथा जापान के कलाकारों द्वारा हुआ था। ऐसी स्थिति में पाश्चात देशों के आधुनिक कलाकार तथा कला समालोचक कला को उसके सार्वलौकिक विस्तार से विमर्शशः मुक्ति देना तथा उसकी भावी उन्नति के लिए नये भावनावादों का पुनर्निमाण करना चाहते हैं। वे इस उद्देश्य में कहां तक सफल हो सके यह जुलाई सन् १९४९ में पेरिस में यूनेस्को (UNESCO) के संरक्षण में हुई कला समालोचकों की द्वितीय अन्तरराष्ट्रीय सभा के वृतान्त से पता चलता है। आधुनिक कला अर्थात् प्रभाववाद (Impressionism) फ्रांसीसी कलावाद (Sur-realism) तथा आदर्शवाद (Abstractism) की समालोचना करने के पश्चात् वे इस परिणाम पर पहुँचे कि "आधुनिक कला ने महान सफलता प्राप्त कर ली है, परन्तु उसमें घोर प्रतिबन्ध भी लगे हैं जैसे सामाजिक ज्ञान का अभाव, वास्तविकता से बचने का भाव तथा मानव अन्तरात्मा से मुक्त होने की भावना, जिसके परिणाम स्वरूप जन समाज का एक महान भाग आधुनिक कला के उपभोग करने के गौरव से वंचित रहा।"

किसी भी देश की धर्म निर्पेक्ष कला पूरे राष्ट्र से उचित अवलम्ब नहीं पा सकती। वह केवल एक ऐसे दल की ही सहानुभूति प्राप्त कर सकती है जैसे किसी समुन्नत रुचि के विद्वानों के एक समुदाय की अथवा कुछ समय के लिए केवल फ़ैशन के रूप में जन साधारण की। परिणाम स्वरूप यूरोपीय कला का आधुनिक झुकाव अभी से कम होने लगा है और कला समालोचक अब एक नये प्रवेश मार्ग की खोज में हैं। वे उस विशेष भाव को छोड़कर जो सकल सृजनशील कला आकृतियों में अभिव्यक्त है एक नई विचारधारा तथा उसकी "टैकनीक" स्थापित करने की ओर अधिक झुके हुए हैं। कला में दार्शनिक विज्ञानवाद जिसकी व्याख्या कैंट तथा नीशे (Nietzshe) सदृश्य विद्वानों ने की है कि "महान प्रतिभा द्वारा कोई भी सृजन सुन्दर होना ही चाहिये" यदि इसको विचारणीय माना जाय तो कला में कल्पनावाद पर श्रद्धा कलाकार के व्यक्तित्व पर बहुत कुछ निर्भर हो जायगी। रस्किन, टॉलसटॉय, मौरिस तथा वर्गसन ने प्लेटो के आदर्श की जो व्याख्या की है उस के अनुसार "कला का कोई सम्पादन जो वास्तविकता, प्रकृति का भाव, आदर्श, अनन्तता, दिव्य श्रेष्ठता अथवा विशेषता को अभिव्यक्त करता है सुन्दर है"

विश्व की सब कलाओं में तुल्यभारता की अवस्था रही है। प्रकृति का द्वशु अर्थ जो गुफानिवासियों तथा बाईजेन्टाइन शैली के अति भ्रमित पादरियों ने चित्रित किया है उसमें एक ही सारभूत भाव मिलता है और प्रत्येक युग के कलाकारों ने अपने कल्पनायुक्त उद्यम को इस समय तक जारी रखा है। इस सम्बंध में आध्यात्मिक तथा धार्मिक कला की कभी भी उपेक्षा नहीं की गई। जीवन तथा उसकी परिवृत्ति की भावमय अभ्यर्थना द्वारा व्याख्या करने के लिए ऐसा निरन्तर स्रोत आधुनिक उन्नतिशील कला में अब भी विकसित किया जा सकता है यदि वह टेकनीक जो अभिव्यंजन का साधन है कलाकारों की सृजनात्मक प्रेरणा की विशेषता को कम न कर दे। यूरोपीय आधुनिक कला प्रकृति के वास्तविक रूप को लोप करने के अभिप्राय से जान बूझकर एक चुनौती के समान है और इसी करण ऐसी विश्वव्यापी रीति को अपनाने की बजाय सदा प्रागैतिहासिक टैकनीक में आश्रय ढ़ूँढ़ती रहती है।

भारतीय कला का प्रश्न सर्वथा भिन्न है। हमने स्वयं अपनी कला की अखण्ड खानदानी सपंदा तथा परम्परा का उपभोग किया है। हमारे कलाकारों ने प्रकृति की नक़ल करने का प्रयत्न कभी भी नहीं किया। रूपान्तरीय ज्ञान तथा त्रिपरिमाणित दृष्टिकोण विक्टोरिया युग में पाश्चात्य देशों के कला विशेषज्ञों द्वारा उसी प्रकार पुरःस्थापित कर दिए गए जैसे उन्होंने अपने धर्म प्रचारकों द्वारा धार्मिक विचारधारा को पुरः स्थापित करने का प्रयत्न किया। शुद्ध कला में प्रकाश चित्र सम्बंन्धित वास्तविकता का बिलकुल अभाव होने के कारण उसकी उन्नति के लिंए हमको पाश्चात्य देश की आधुनिक कला अनुकरण करने के लिए जान-बूझकर कोई विचारपूर्ण आन्दोलन आरंभ करने की आवश्यकता नहीं है बल्कि कला द्वारा आत्म-अभिव्यंज तथा कल्पना की आन्तर सारगर्भिता का फिर पता लगाना आवश्यक है जो कि किसी समय पूर्वीय तथा पाश्चात्य देशों की पुरानी रीतियों से उत्कृष्ट हो सके और इस युद्ध पीड़ित विश्व में एक आत्मिक अनुरूपता (Spiritual harmony) तथा शान्ति की स्थापना कर सके।

नौ

भारतीय कला तथा विचार-पद्धति

पाश्चात्य देश के इतिहास लेखकों तथा कला समालोचकों को स्वीकार करना पड़ा कि विक्टोरिया युग में भारतीय कला अनुचित रूप से उपेक्षित हो गई थी और उसके आध्यात्मिक अर्थ की वास्तविक गुण-ग्राहकता तीन अग्रगामी कलाकार सर्वश्री हैविल, आनन्द कुमारस्वामी तथा अविनेन्द्र नाथ टैगोर के परिश्रम के कारण ही हो सकी। जहाँ तक आरम्भ के यूरोपीय कला-समालोचकों की उदासीनता का सम्बन्ध है उसके बारे में प्रोफ़ेसर विलकिन्सन लिखते हैं कि "इसका विशेष कारण केवल यह है कि यूरोप अपनी बोझिल आँखों को ऊपर उठाकर अपनी सीमा के बाहर तक न देख सका।" वह यह भी बताते हैं कि इस भ्रम का एक यह भी कारण था कि "एक यूरोपीय के लिए बिना भारतीय मार्ग प्रदर्शक के भारतीय दृष्टिकोण से देखना कठिन था और इसी कारण भारतीय चित्रों का उचित मूल्यांकन नहीं किया गया बल्कि वे ग़लत समझे गए।"

डाक्टर कुमारस्वामी तथा हैविल को हमारी पुरानी पीढ़ी के भारतीय विद्वान ठीक-ठीक समझ न सकने के कारण उनकी रचनाओं को अधिकृत (authoritative) वर्णन कभी भी न मान सके। कुछ अन्य महानुभाव जिन्हों ने भारत में इस विषय पर लिखा वे लोग थे जो इसको भारतीय जागृति का अंश समझते थे और इसी कारण उनको बँगाल में कला जागृति आन्दोलन का पक्ष लेने से स्वयं यश प्राप्त करने का अवसर मिल गया। वास्तव में उन्होंने भारतीय कला का बाहरी रूप भर देखा और उसके वास्तविक अर्थ तथा विचार पद्धति को पूर्ण रूप से समझे बग़ैर ही विद्वतापूर्ण जैसे ढंग से उस पर लिखना आरम्भ कर दिया। यही कारण है कि हमारे देश वासियों ने डाक्टर अविनेन्द्र नाथ टैगोर तथा उनके शिष्यों द्वारा कला के क्षेत्र में किये विद्वता-पूर्ण कार्यों की उपेक्षा की। अब हम देखते हैं कि हमारे कुछ आधुनिक कलाकार आदि-विक्टोरियन युग के कलाकारों के समान अब फिर भारत की पुरातन कला को ठुकराने लगे हैं और एक नई शैली के निर्माण का यश

प्राप्त करने के चक्कर में उन्होंने जान-बूझ कर वर्तमान यूरोप के सुरीयलिटर और डाडा शैली का अनुकरण करना आरम्भ कर दिया है।

इन कलाकारों की समझ से परम्परा का अर्थ है अतीत की नकल करना और इसी कारण पुराने अनुभवों के वास्तविक महत्व ने इनकी दृष्टि में सारी प्रतिष्ठा खोदी। यदि हम कालिदास की प्रशंसा करते हैं तो हमको इसका ज्ञान आवश्यक हो जाता है कि अपने महत्वपूर्ण प्रसिद्ध काव्य रचना के लिए वे बाल्मीक ऋषि के कितने ऋणी थे। भारतीय कला जो दो हज़ार वर्ष से अधिक १९वीं शताब्दी के आदि तक ट्रावंकोर कोचीन में रही औरइसके पश्चात् २०वीं शताब्दी के आरम्भ तक बंगाल की लोक कला के रूप में समृद्ध रही उसको हमारे यथाकथित आधुनिक कलाकारों तथा कला समालोचकों के द्वारा बड़ा धक्का लगा और उसने अपनी विशिष्ट विचार पद्धति तथा प्रतिष्ठा खो दी। हैविल तथा कुमारस्वामी के पश्चात अभाग्यवश अब कोई ऐसा नहीं रहा जो परम्परा प्राप्त कला के अर्थ तथा चेतनता पर और आधुनिक कलाकारों के दृष्टि-कोण के अनुकूल उसको अपनाने की सम्भावना पर अधिक प्रकाश डाल सके।

दूसरी ओर यदि हम यूरोपीय कला के विकास का पता लगाएँ तो यह प्रत्यक्ष हो जायगा कि गॉथिक तथा बाईजेन्टाइन युग के पश्चात यह अधिक समय तक चालू रही और चित्रों की रचनाओं के वास्ततिक दृष्टिकोण को अति वैज्ञानिक ढंग से ईसाई धर्म की अनेक रोमांचक कल्पनाओं सहित विकसित करती रही। फ़ोटोकला तथा दोनों उत्तरोत्तर विश्व संग्रामों के आगमन से यूरोपीय कला, चित्रकला तथा मूर्तिकला, की विचार पद्धति ने जीवन के कार्यकलाप के हर क्षेत्र में वैज्ञानिक संसर्ग के कारण अपना सारा आकर्षण खो दिया। यूरोप ने बहुत पहले गॉथिक तथा बाईजेन्टाइन कला में चित्रकला के शुद्ध रूप को छोड़ दिया था। एक यूरोपीय आधुनिक कला समालोचक मौरिस डेनिस ने यूरोप की कुछ आधुनिक कला की विचार पद्धति पर प्रकाश डालते हुए अज्ञानता वश भारतीय आधुनिक चित्रकला की शुद्ध आकृति की व्याख्या करते हुए कहा है कि "चित्र एक साधारण पृष्ठभाग है जो एक नियमित व्यवस्था द्वारा संग्रहित रंगों के आवरण से ढाँक दिया गया है।" भारतीय कला मूल रूप से इससे भिन्न नहीं केवल इसके कि जहाँ वह यह कहता है कि कला को किसी प्रकार की भावना, रोमांच अथवा परम्परा प्राप्त पक्षपात को नहीं दर्शाना चाहिए। क्लॉड जौरनट, एक अन्य पाश्चात्य कला समालोचक के शब्दों में "यूरोपीय चित्रकारों ने नये-नये प्रयोग किए हैं, पूर्वी देशों तथा अफ्रीका से शिक्षा ग्रहण की है और वे मध्यकालीन युग की ओर अग्रसर हुए हैं।"

भारतीय धारणा के अनुसार एक अंकित किए 'चित्र' का शाब्दिक अर्थ है एक सृष्टि जो आश्चर्य उत्पन्न करती है। इसलिए इसका तात्पर्य यह कभी नहीं था कि वह प्रकृति की फ़ोटोग्राफ़िक समरुपता हो। फिर ऐशियाई तथा यूरोपीय देशों की कला का ठीक हृदयंगम करने के लिए हमको उनका ऐतिहासिक विकास तथा विचार पद्धतियों का ज्ञान होना आवश्यक है। कला का विकास जीवन में रुचिवर्धन तथा संस्कृति की वृद्धि के साथ होता गया। इसी कारण धर्म सदृश्य कला कभी जीवन-आकांक्षा रहित नहीं हो सकती और इसी कारण इसे धर्मनिर्पेक्ष

बनाना असम्भव है। पूर्वीय और पाश्चात्य कला में मूल भिन्नताएँ उनकी अन्य पहुँच में हैं। जैसा पहले बता चुके हैं धर्मनिर्पेक्ष तथा वैयक्तिक कला केवल किसी समुदाय को रुचिकर हो सकती है और फ़ैशन के सदृश्य लोप भी हो सकती है परन्तु धर्म सत्ता संबंधी कला सम्पूर्ण वंश जाति को एक धार्मिक संस्थापनकरण में एकाकार कर देती है। इस संबंध में हिन्दू-बौद्ध तथा ईसाई कला ने एशिया तथा यूरोप के लिए जो कुछ किया वह उनके कई शताब्दियों की निरन्तर सफलता प्राप्ति से जाना जा सकता है। पूर्वीय कला के धार्मिक रूप की अन्तर विशेषता की व्याख्या उनके अनेक उदाहरणों द्वारा की जा सकती है। ऐशिया के महान जापानी कलाकार हौकूसाई ने एक कलाकार के कार्य की व्याख्या करते हुए कहा है कि चित्रकार को अपने आप को इस विषय से जिसको वह एक आध्यात्मिक क्षेत्र में चित्रित करता है अभिन्न कर लेना चाहिए और उसे उसके ध्यानपूर्वक निरीक्षण करने के लिए सम्मानित करना इसके लिए अपमान जनक होना चाहिए क्योंकि निरीक्षण करने का अर्थ है कि वह निरीक्षण की जाने वाली विषय वस्तु से पृथक है। इसी प्रकार यह कला की ओर अभिरुचि ही है जिसके प्रभाव से दर्शक अपने आप को भुलाकर स्वप्न सदृश्य स्वयं दृश्य-विषय बन जाता है। परन्तु यह कार्य रीति वास्तव में इतनी सामान्य नहीं है। उसने कहा—"जब मैं ७३ वर्ष की आयु का था तब प्रकृति के वास्तविक आकार का ज्ञान प्राप्त कर सका, ८० वर्ष की आयु पर इसमें कुछ अधिक उन्नति करूँगा, ९० वर्ष की आयु में पदार्थों के रहस्यों को मैं समझ सकूँगा, १०० वर्ष पर मैं एक आश्चर्यजनक वस्तु बन जाऊँगा और ११० वर्ष की अवस्था पाने पर मेरी कूँची से निकला हुआ हर निशान और हर रेखा सजीव होगी।" इस रहस्य पूर्ण अनुभव में है "वास्तविकता"—अनन्त सत्य जिसकी हिन्दू बौद्ध दर्शनशास्त्र में व्याख्या की गई है। वस्तुओं की एकता का अनुभव आकाश (अवकाश) में तथा सृष्टि (पदार्थ) में हुआ। कलाकार अद्वैत भाव का अनुभव उस विषय के साथ कर सकता है जिसको वह अपने कृत्य में अंकित करता है यदि वह उस सांकेतिक चिन्हवाद तथा विचार पद्धति को समझ सके जिसने हमारे प्राचीन भारतीय तत्वज्ञान के पूर्ण आकार को रूप दिया है।

भारतीय कलाकारों ने प्रकृति की वास्तविक रूप से नक़ल करने का कभी साहस नहीं किया इसी कारण उन्होंने कभी-कभी भय उत्तेजित चिन्हों का अन्वेषण किया जिसकी कल्पना मानव अपनी ज्ञानेन्द्रियों द्वारा कभी भी नहीं कर सकता था। भगद्वद्गीता में 'विश्वरूप' एक ऐसे 'विराट पुरुष' की कलापूर्ण कल्पना है, जो अनन्त है, सर्व प्रवेशित, सदा विस्तृत शक्ति है, भाववाचक है तथा सर्वथा सत्य है। सांकेतिक चिन्ह साकार अभिव्यंजन हैं जिनका आध्यात्मिक महत्व मानव चित्त पर सरलता से विस्तरित किया जा सकता है। पौराणिक रीति के सांस्कारिक चिन्हों का अन्वेषण एक साधारण निर्माण की सीमा में कुछ अधिक आशय समझाने के अभिप्राय से किया गया था। भारतीय पौराणिक कथायें कला-पूर्ण लाक्षणिक चिन्हवाद सहित मानव चित्त की व्याख्या करने के लिए उचित क्षेत्र पा सकती हैं। रोज़ेटी (Rossetti) अथवा ब्लेक (Blake) अपने रूपक-मयी कल्पनाओं में चाहे जितने कुशल रहे हों उनको चित्रों द्वारा अपनी अन्योन्य

मानसिक प्रतिमाओं को अभिव्यक्त करने के लिए विमर्शशः अपने लाक्षणिक चिन्हों का अन्वेषण करना ही पड़ा। परन्तु एक भारतीय कलाकार अपनी कृति में ऐसे रूपकमय अर्थों की अभिव्यक्त कर सकता है यदि वह उन सांकेतिक चिन्हों को लौकिक धर्म सम्बन्धित विषयों द्वारा समझ कर और दिव्य आत्मा के प्रकाशन की अनेक स्थितियों का अभिव्यंजन करते हुए उनका प्रयोग कर सके। इन सांकेतिक चिन्हों के सही अर्थ होते थे और हर जन साधारण इनको समझता था। परन्तु हमारी सामान्य शिक्षा का धर्म निर्पेक्ष रूप होने के कारण तथा धर्मावलम्बी पुरोहितों के अर्थ समझाने की विमुखता के फलस्वरूप उनके गुप्त रहस्य हमारे लिए रहस्य ही बने रहे। अन्यथा हमारे कलाकारों की उच्च स्तर की वैज्ञानिक शिक्षा के आधार पर अपरिमित प्रकार के रूपकमय तथा भाववाचक ढंग के मौलिक चित्रों का सृजन सम्भव हो सकता था। यदि हमको एक राष्ट्र सदृश्य रहना है तो हम को उसी प्रकार उन्नति करनी होगी जैसे विश्व के अन्य राष्ट्र अपनी अन्योन्य सांस्कृतिक खानदानी संपदा सहित उन्नति कर रहे हैं और अपनी विशेष कला परम्परा तथा उसकी विचार पद्धति पर निष्कपट रूप से गर्वित हैं। उनमें से कुछ धर्म निर्पेक्ष रूपी कला की समस्या का समाधान करने के लिए अनुभव युक्त प्रयत्न कर रहे हैं। राष्ट्रों के इन पृथक-पृथक दृष्टिकोणों में भिन्न-भिन्न प्रकार की कला-आकृतियां उसी प्रकार से विकसित हो रही हैं जैसे अनेक देशों के पुष्प अपने ही अपने देश की भूमि में विकसित होते हैं। भिन्नता में इस प्रकार की समानता सारे विश्व में सङ्गीत कला, चित्रकला, नृत्यकला, मूर्तिकला, भवन निर्माण कला तथा भाषाओं, मुख-लक्षण निरूपण सम्बन्धी विद्या और वेषभूषा में भी मिल सकती है। हम सब उनको सहन कर सकते हैं, उनका मूल्यांकन कर सकते हैं तथा उनका आदर कर सकते हैं। इसी प्रकार हमारी विशिष्ट संस्कृति जो एक महान परम्परा प्राप्त पृष्ठ-भाग पर आधारित है उपेक्षित नहीं हो सकती।

इस प्रकार भारतीम कलाकार कला में सांकेतिक विचार सूचक चिन्हों से परिपूर्ण थे और रोज़ेटी, ब्लेक तथा कुछ अन्य कलाकारों की तरह विमर्शशः सांकेतिक तथा आध्यात्मिक अर्थ पहनाने में एकलित उदाहरण नहीं थे। इसी कारण भारतीय कलाकार काल्पनिक तथा रहस्यमयी हो सके थे। इस विश्व के सम्पूर्ण अभिन्न जीवों की केन्द्रीय, भाववाचक तथा आध्यात्मिक स्थिति की व्याख्या उन्होंने विविध प्रकार के लाक्षणिक चिन्हों द्वारा की है। प्रधान दार्शनिक आदर्शों ने इस देश की काल्पनिक कला में निश्चित क्षेत्र पाया। भारतीय ज्ञानी पुरुषों के मतानुसार भारतीय कला की इस विचार पद्धति को हम मानव चित्र तथा उसके स्वभाव के अन्तर-भाव के विश्लेषण द्वारा पा सकते हैं। हिन्दू धर्म जिसका मुख्यतः लक्ष्य दर्शनशास्त्र था उसके अनुसार अनन्त ईश्वर की सृजन शक्ति 'माया' है जिसने अन्ततः अपना रूप 'काम' (इच्छा) तथा 'संकल्प' (निश्चय) में परिवर्तित कर लिया जो मानव कार्यकलाप के आवश्यक अवस्थान हैं। "प्राकृति" तीन प्रकार के विशेष 'गुणों' में विभाजित है और सकल मानव जाति उनके प्रभाव के आधीन है। वे मनोवैज्ञानिक क्षेत्र में "सत्व"—साधुता, "रज"—

चचंलता तथा क्रोध, "तमस्"—उदासीनता तथा अन्धकार के रूप में क्रियाशील रहते हैं।

भगद्वद्गीता के अनुसार "सत्य", "रज" तथा "तमस" प्राकृति-उत्पन्न "गुण" (भाव) हैं जो उस मानव शरीर से दृढ़ता से संलग्न हैं जिसका "सत्व" उसकी शुद्ध, प्रकाशमय तथा स्वस्थ अभिव्यक्ति का रूप है और बुद्धि के अनुराग से सीमित है। "रजस" की प्रकृति क्रोधी होने के कारण जीवन तृष्णा के अनुराग की स्रोत बनी हुई है जो शरीर में रहने वाले को कर्म-अनुराग द्वारा बाध्य करती है। परन्तु "तमस" की उत्पत्ति अज्ञान, आलस्य तथा अनुत्साह से है। अर्थात "सत्व" संबन्धित है मोक्ष से, "रजस" कर्म से तथा "तमस" बुद्धि पर परदा पड़ा होने के कारण असावधानी से। जब शरीर के हर द्वार से बुद्धि का प्रकाश फैलता है तो यह समझ लेना चाहिए कि "सत्व" बढ़ रहा है। लोभ, किसी कार्य में व्यस्त क्षय होने वाली शक्ति, व्यग्रता तथा आकांक्षा, इनकी उत्पत्ति "रजस" के बढ़ने से होती है। अन्धकार, अस्थिरता, उपेक्षा तथा मोह इन सब की उत्पत्ति होती है "तमोगुण" की बृद्धि से। हमारे देश के सब कलाकार तथा कवियों ने अपनी कला और साहित्य को क्रमबद्ध करते समय इन विचार पद्धतियों पर दृष्टि रखी है। सौभाग्यवश कालीघाट (बंगाल) के "पट" कलाकार (लोक कलाकार) जो अपने चित्रों को इसी प्रकार क्रमबद्ध किया करते थे उनके समुदाय के अन्तिम कलाकार से भेंट हुई थी। उसने उन तमाम चित्रों को जिनमें देवी देवताओं को दर्शाया गया था "सत्व गुण" कृतियों में विभाजित किया था [देखिये चित्र सं० १४]। "रजो-गुण" श्रेणी के चित्रों में प्राय: चिड़ियाँ, पशु मछली या शृंगार करती हुई स्त्रियाँ, इत्यादि थीं [देखिये चित्र सं० १५]। "तमोगुण" की श्रेणी के चित्रों में दुखी विवाहित स्त्री-पुरुष एक दूसरे को पीटते हुए, दैत्य एक स्त्री को चीर कर खाते हुए तथा ऐसे ही अन्य भयंकर दृश्य आदि थे [देखिये चित्र सं० १६]। यदि हम यूरोपीय कला का विश्लेषण अपनी विचार पद्धति द्वारा करें तो बाइबिल की कथाओं से सम्बन्धित सब चित्र जिनके अन्तर्गत 'मेडोना' आदि चित्र आते हैं, "सत्व-गुण" श्रेणी में रखे जा सकते हैं। सारे प्राकृतिक दृश्य तथा मानव चित्र "रजो-गुण" की श्रेणी में आते हैं, तथा यूरोपीय कला में तमाम अति-आधुनिक कलाकारों के प्रयोग जिनमें गर्व और क्षय के तत्व विद्यमान थे "तामस" गुण के अन्तर्गत आते हैं इन प्रति क्रियावादी कला आकृतियों की उत्पत्ति प्रत्यक्ष रूप से दोनों क्रम बद्ध विश्व व्यापी युद्धों के फलस्वरूप ही हुई।

"संस्कृत काव्य अलंकार शास्त्र" के अनुसार इन तीन मूल तत्व विषय, गुणों को ९ विभिन्न प्रकार के रस-भाव में विभाजित कर सकते हैं:—

"सत्व-गुण" में प्रधान रूप से तीन गुण होते हैं (१) "शान्ति-रस", जो जीवन पर दार्शनिक दृष्टिकोण रखते हुए चित्त में शान्ति उत्पन्न करता है, (२) "करुण-रस," जो किसी साथी की मृत्यु अथवा उसके दुर्भाग्य के कारण उत्पन्न हो, (३) "वात्सल्य रस" जो सब जीवों की ओर प्रेम अथवा अनुराग उत्पन्न करे।

'रजो गुण" के रूप हैं —(१) "वीर-रस", वीरता-अभिव्यंजन तथा साहस
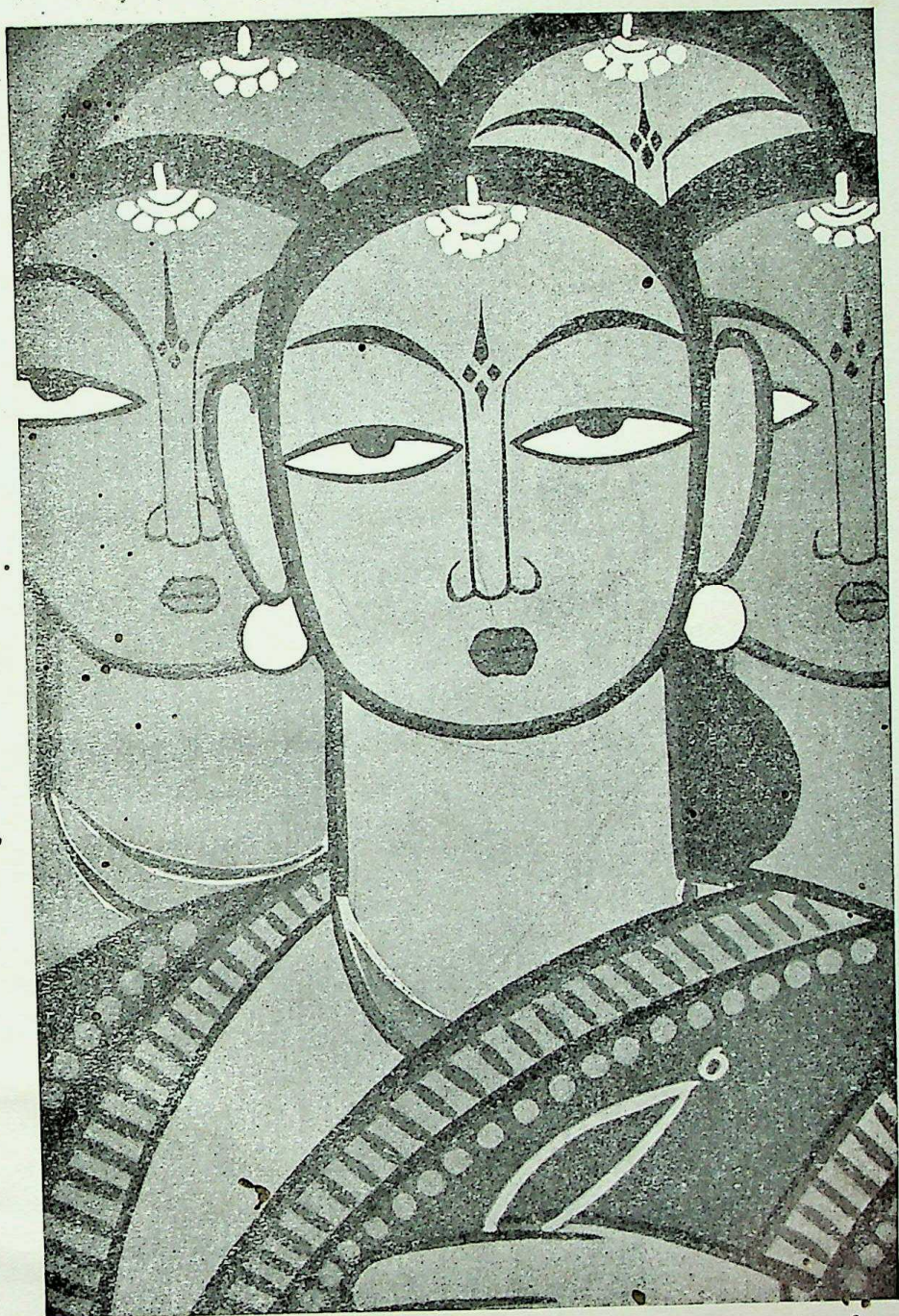
चित्र नं० १५ बहनें—यामिनी राय, राजसिक—मानव-शिल्प। पृष्ठ ५६

जिसके द्वारा मनुष्य अपने देश, स्वदेश भक्ति, दान तथा अन्य नीति शास्त्र सम्बन्धित कार्यों के लिए लड़ते हैं; (२) "श्रृङ्गार-रस" अथवा "आदि-रस" जिसके द्वारा स्त्री-पुरुष में जीव विद्या संबन्धित पुनरुत्पत्ति की आवश्यकता के फलस्वरूप प्रेम उत्पन्न होता है, (३) "हास्य-रस" जो हास्य तथा रसिकता उत्पन्न करे।

"तमो-गुण" में हैं —(१) "अद्भुत-रस" अर्थात हमारे चित्त में आश्चर्य तथा अस्थिरता का तत्व, (२) "वीभत्स-रस," जिससे घृणा उत्पन्न हो, (३) "रौद्र-रस" अर्थात भयानक अभिव्यक्ति। यह तीनों रस एक बालक अथवा गुफा-निवासी मानव के मनोवैज्ञानिक शुद्ध तथा आदिम अभिव्यंजन हैं। उसमें क्रोध, गर्व तथा विनाशकारी तत्वों का समावेश था। कोई कलाकार भी चाहे वह यूरोपीय आधुनिक विचार पद्धति का अथवा भारतीय कला की आध्यात्मिक आदर्शता का अनुसरण करता हो इन गुणों और भावों से बच नहीं सकता। बाल्मीक जी ने महाकाव्य रामायण में अपने काव्य के लक्ष्य और उद्देश्य की व्याख्या करते हुए इनके संबन्ध में लिखा है :—

"जीवन अभिव्यक्ति के विभिन्न प्रकार के गुणों के अनुचयन द्वारा सभ्य मानव ने अनेक सांकेतिक चिन्हों तथा कला आकृतियों का अन्वेषण किया। यह अवश्य ठीक है कि ऐसे सांकेतिक चिन्ह उसकी आशंका की सीमा, गम्भीरता तथा यथार्थता पर निर्भर होते हैं। उसमें विवेक करने की विश्लेषणात्मक शक्ति तथा व्यक्तिगत व्याख्या के अनुक्रम को विचार तथा कल्पना में ग्रहण करने के लिए, उनकी एक दूसरे से तुलना करने के लिए तथा यह निश्चय करने के लिए कि कहाँ और कैसे वे मर्मभेदी तथा स्पष्ट अर्थ, आदर्श तथा भाव, केन्द्रित करते हैं एक प्रशिक्षण बुद्धि तथा अभ्यास का होना आवश्यक है।"

निम्नांकित रूपरेखायें इस विषय को अधिक स्पष्ट कर देंगी :—

(१)

गुण	व्याख्या	दृष्टान्त
सत्वः	कल्पना अर्थात प्रतिमा को चित्त में गृहण करना। एक अति सूक्ष्मग्राही मुनुष्य ही रीति-विरुद्ध दृश्य विश्व के अनुभव करने की सामर्थ्य रख सकता है तथा "स्वयं" (आत्मा) की महान यथार्थता को समझ सकता है। मनोवैज्ञानिक दृश्य विषय अर्थात आत्मा के चमत्कार का रहस्य उसे प्रत्यक्ष हो जाता है।	कला की समग्र ऐसी कृतियाँ जो आत्मिक, पदार्थ - विषयक अथवा भाववाचक कल्पना द्वारा उत्पन्न होकर शान्ति-दायक हों।
रजः	सांसारिक कार्य कलाप की ओर केन्द्रित हो तथा भौतिक लाभ प्रदान करें।	कला की ऐसी सब कृतियाँ जो व्यापारिक लक्ष्य से बनाई गई हों जिसमें प्राकृतिक दृश्य तथा चित्र का रंगना सम्मिलित है।
तमसः	असन्तुलित चित्र अस्थिर, असम्बद्ध आकृतियों को दर्शाते हुए।	आदिम अपरिपक्व कल्पना और बोध की सारी कृतियाँ।

(२)
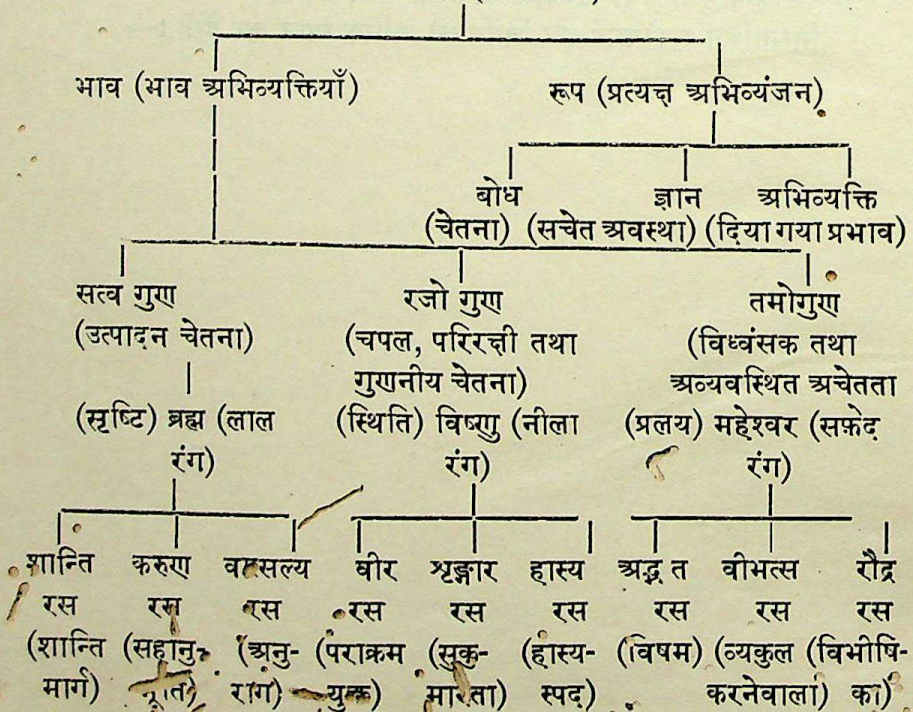
सांकेतिक शब्दावली

अध्यात्मवाद : आत्मा परमात्मा सम्बन्धी विवेचन अथवा सिद्धान्त । animism.

आत्मावाद : animism.

अभिव्यक्ति : अभिव्यंजन; expression.

अभिव्यंजनवाद : भाव प्राकट्यवाद ।

अभिव्यंजनवादी : Expressionist.

उभरी हुई नक़्क़ाशी : Relief.

ऐसकीमोज़ : उत्तरी अमेरिका के आदि असभ्य निवासी।

कणाश्म : कठोर पत्थर । granite.

कर्मकाण्ड : rituals.

कार्यकलाप : activities.

कार्यपूर्ति : achievements.

गढ़ना : Chisel out.

घनवाद : चित्रकला की एक प्रकार की पद्धति जिसमें विविध कोणों से दृष्टिगोचर एक वस्तु विशेष को एक ही चित्र में घनों और त्रिकोणों आदि की सहायता से खींचा जाता है; क्यूबिज़्म ।

घनवादी : Cubist.

चलचित्र विज्ञान : Cinematography.

चिह्न : प्रतीक, symbol.

धूपछाया चित्रण : Chiaroscuro.

टेकनीक : प्रविधान, यंत्र चातुर्य, प्रक्रिया, किसी कला का ढंग या पद्धति; Technique.

डाडाइज़्म : यूरोपीय कला में आया एक अल्पजीवी आन्दोलन जिसमें परम्परा और रूढ़ियों को बिलकुल छोड़ दिया गया था ।

ताम्रलिप्ति : बंगाल में तमलूक नाम के स्थान का प्राचीन नाम ।

त्रिपरिमाणित : यूरोपीय कला में आधुनिक झुकाव; Tri-dimensional.

तौतम : उद्भिद चिह्न, गुप्त सम्बन्ध सूचक चिह्न; totem.

तौतमवाद : उद्भिद चिह्नवाद, गुप्त सम्बन्ध सूचक चिह्नों पर सामाजिक रीति रिवाजों को

	आधारित करने का सिद्धान्त। totemism.
	: Television.
दूरप्रेषित विज्ञान	: Transmitted.
दूरप्रेषित	: Secular.
धर्मनिर्पेक्ष	: Successive generation.
परम्परागत वंशज	: traditional.
परम्परा प्राप्त	: Surrounding.
परिवृत्ति	: Heritage.
पैत्रक सम्पत्ति	: Reactionary.
प्रतिक्रियावादी	: Photography.
प्रकाश चित्रण	: Impressionist.
प्रभाववादी	: Relief.
प्रलम्ब शिल्प	: Talent.
प्राकृतिक गुण	: Paleolithic
प्राचीनी पत्थर-युग सम्बन्धित	
फ़ौव	: बीसवीं शताब्दी के चित्रकारों का एक वर्ग जिसमें मतीसे भी सम्मिलित है जो चित्रकला में रूढ़ि को मानता है तथा वास्तविक चित्रणकला नहीं मानता।
फ़ौविज़्म	: इस प्रकार की चित्रकला के सिद्धान्त और नियम।
भविष्यवादी	: Futurist.
भाव प्राकट्यवाद	: Expressionism.
भौतकवादी	: Materialistic.
मॉडल	: नमूना, प्रतिरूप।
यथार्थवादी	: रियलिस्ट
यहूदी	: Hebrew.
यूनानी	: Greek, Hellenic.
रोमांचकता	: Romanticism.
संस्कारशील	: प्लैस्टिक, plastic
संक्रमणकारी काल	: एक स्थिति से दूसरी स्थिति में जाने की अवधि।
संचरणशील	: Dynamic.
सुररियलिज़्म	: फ्रांस की कला का आन्दोलन।
सुररियलिस्ट	: अति यथार्थवादी।
सामायिक चमत्कार	: Marvel of the time.
सूत्र	: Formula.
स्वयंभू	: Spontaneous.